अप्रैल - जून २००१

# कथाबिंब

कहानीकार : ❊ प्र. ना. जायसवाल ❊ विजय ❊ संगीता आनंद
❊ उषा भटनागर ❊ धनजीत कौर

आमने / सामने : ❊ पं. किरण मिश्र

सागर / सीपी : ❊ हिमांशु जोशी

१५ रुपये

*With Best Compliments From :*

# United Phosphorus Limited

## (Chemo Electronic Laboratory)

"The Leading Manufacturer of Toxic Gas Detection Devices".

Products Available :

**Electronic Devices**

Personal Monitors

Portable Monitors

Continuous Monitoring System

**Chemical Detectors**

Short Term Detector Tubes

Detector Strips

Dosimeter Tubes for TWA measurement

*Parts per million level measurement of toxic gases like $Cl_2$, $NH_3$, $H_2S$, $SO_2$, HCl, HCN, CO, Benzene, Mercaptans, combustible gases and many other chemical vapours is now possible using* ***UNIPHOS*** *electronic monitors or chemical detectors.*

P.O. : Nahuli,
Tal. : Umbergaon,
Dist. : Valsad - 396 108,
(Gujarat)

Tel. : 0260-787318 / 317,
787086 / 068
Fax : 0260-787318, 431823
E-mail : uplnahuli@sify.com

अप्रैल - जून २००१
(१९७९ से प्रकाशित)

# कथाबिंब

प्रधान संपादक
डॉ. माधव सक्सेना 'अरविंद'

संपादिका
मंजुश्री

संपादन सहयोग
प्रबोध कुमार गोविल
देवमणि पांडेय
जय प्रकाश त्रिपाठी
अशोक वशिष्ठ

संपादन-संचालन पूर्णतः
अवैतनिक तथा अव्यवसायिक

: सदस्यता शुल्क :
आजीवन : ५०० रु., त्रैवार्षिक : १२५ रु.
वार्षिक : ५० रु.
(वार्षिक शुल्क ५ रु. के डाक टिकटों के रूप में भी स्वीकार्य है)
विदेश में (समुद्री डाक से)
वार्षिक : १५ डॉलर या १२ पौंड
*कृपया सदस्यता शुल्क चैक (कमीशन जोड़कर) मनीऑर्डर, डिमान्ड ड्राफ्ट, पोस्टल ऑर्डर द्वारा केवल 'कथाबिंब' के नाम ही भेजें.*

: संपर्क :
ए-१० 'बसेरा,'
ऑफ दिन-क्वारी रोड,
देवनार, मुंबई - ४०० ०८८
फोन : ५५१ ५५४१ व ५५५ ५८२२
टेलीफैक्स : ५५५ २३४८
e-mail: kathabimb@yahoo.com

**एक प्रति का मूल्य : १५ रु.**
कृपया नमूने की प्रति मंगाने हेतु १५ रु. के डाक टिकट भेजें.
(सामान्य अंक : ४०-४४ पृष्ठ)

## क्रम

### कहानियां

|| ५ || अरे जाने दो / पी. एन. जायसवाल
|| ११ || रणछोड़ सिंह / विजय
|| १६ || अंजुम तुम लौट आओ ! / संगीता आनंद
|| २५ || हम ज़िंदा हैं ! / उषा भटनागर
|| ३० || संदेह के घेरे / धनजीत कौर

### लघुकथाएं

|| १० || सत्य : एक कटी पतंग / आनंद बिल्थरे
|| २४ || बेचना / डॉ. सुरेंद्र गुप्त
|| ५२ || समानांतर दर्द / दिनेश पाठक 'शशि'

### गीत / कविताएं / ग़ज़लें

|| ९ || ओ अस्ताचल गामी सूरज / चंद्रसेन 'विराट'
|| १५ || ग़ज़लें / अवंतिश रजनीश
|| २२ || बिन पते अब कौन पहुंचाये / शैलेंद्र चौहान
|| ३४ || कब्रिस्तान और बच्चे / यश मालवीय
|| ३४ || ग़ज़ल / मदन मोहन 'उपेंद्र'
|| ५१ || घुमक्कड़ ज़िंदगी / रमेश मनोहरा
|| ५३ || जन्मभूमि, गुलाब और कांटा / हेमंत श्रीवास्तव
|| ५३ || ग़ज़ल / उमाशंकर राव 'उदेंदु'

### स्तंभ

|| ४ || 'कुछ कही, कुछ अनकही'
|| ३५ || आमने-सामने / पं. किरण मिश्र 'अयोध्यावासी'
|| ३८ || सागर-सीपी / हिमांशु जोशी
|| ४५ || पुस्तक-समीक्षाएं

(आवरण चित्र कलाकार : *श्रीमती उर्मिल जैन*)

# लेटर बॉक्स

⌘ 'कुछ कही, कुछ अनकही' में आपने जिन बातों को उजागर किया है, वे अक्षरशः सत्य हैं. पत्रकारों का काम धोखेबाजी करना नहीं है. तहलका प्रकरण में अपनी सीमा से आगे जाकर पत्रकारिता कलंकित हुई है. यह राष्ट्रहित में किया गया भंडाफोड़ नहीं बल्कि सीधा-साधा व्यापार था. भ्रष्टाचार का क्या कहना ? वह तो अब भारतीय राजनीति, समाज और शासन की कुल जमा पूंजी और नव सांस्कृतिक विरासत बन चुकी है. भ्रष्टाचार को मिटाने की जितनी नयी घोषणा होती है उतनी ही तेजी से 'रक्तबीज' की तरह यह फैलता चला जाता है. इस अंक की सभी कहानियां, कविताएं, गजलें पसंद आयीं. पुस्तकों की समीक्षाएं एवं आमने-सामने, तथा अन्य सामग्री भी स्तरीय एवं पठनीय है.

**जनार्दन यादव**
नरपतगंज, अररिया ८५४३३५ (बिहार)

⌘ 'कथाबिंब' का जनवरी-मार्च २००१ का अंक मिला. रचनाओं की चयन-प्रक्रिया में आप माहिर हैं. यह देखकर अच्छा लगता है कि चाहे जिस विधा की रचना हो, पर उबाऊ नहीं होती. अंत तक रोचकता का निर्वाह करना बहुत बड़ी सफलता है.

पाठकों के साथ आप पूरी तरह न्याय करते हैं और यही संपादक की सफलता का राज होता है.

**डॉ. गिरिजाशंकर त्रिवेदी**
सं. 'नवनीत हिंदी डाइजेस्ट,'
भारतीय विद्या भवन, मुंबई ४०० ००७

⌘ 'कथाबिंब' जनवरी-मार्च २००१ अंक मिला. इस अंक की सभी कहानियों में जीवंतता समाहित है. 'मैकी' कहानी में डॉ. साधना शुक्ला ने यथार्थ को कुरेदते हुए हृदयस्पर्शी स्पंदन से चित्र को झंकृत कर दिया है. प्रेरक व जीवन मूल्यों की दृष्टि से यह रचना परिपूर्ण है. 'कुछ कही, कुछ अनकही' में आपकी बेबाक टिप्पणी अनूठी लगी. उषा राजे सक्सेना के तीन शब्द चित्र, 'आदमी हो गया है नंगा' - उर्मिला जैन, रजनी मोरवाल की कविता 'स्वप्न' चित्राकर्षक हैं. आमने-सामने, सागर-सीपी स्तंभ तो कथाबिंब के प्राण हैं, मनमोहक भी.

इस अंक में छः कहानियां हैं, सभी एक से बढ़कर एक हैं. कथाबिंब के पृष्ठभाग पर दिये गये चित्र अनुपम हैं. कहानीकारों का परिचय/चित्र देकर आप उन पर उपकार करते हैं. आप की जीवट जिजीविषा को नमन.

**डॉ. हरिप्रसाद दुबे**
गयादेवी नगर, रामपुर भगन, फैजाबाद २२४ २०३ (उ. प्र.)

⌘ जनवरी-मार्च २००१ का अंक भी 'कथाबिंब' के प्रत्येक अंक की मानिंद उत्कृष्ट रहा. लघुकथाएं - 'राजनीति' एवं 'एनकॉउंटर' अच्छी लगीं.

'राजनीति' के अंतर्गत एकदम सही बतलाया है कि सांप एवं नेवले की लड़ाई में आम जनता सिर्फ लड़ाई देखती है, हार-जीत का परिणाम क्या रहता है, का ज्ञान भी उसे नहीं हो पाता है. राजनीतिक दल एवं उसके सदस्य भी जब आपस में लड़ते हैं तो वे भी किसी सांप एवं नेवले से कम नहीं हैं. लड़ते-लड़ते वे एक भी हो जाते हैं और जब भी अवसर मिलता है फिर वार करने से नहीं चूकते हैं और जनता मूक दर्शक बन इनकी 'नूरा कुश्ती' देखती रहती है.

निरपराध की असामयिक मृत्यु को 'एनकाउंटर' के माध्यम से बखूबी समझाया गया है कि किस प्रकार से 'एनकाउंटर' का प्रयोग होता है.

**देवेंद्र गो. होलकर**
१८८/ए, सुदामा नगर, अन्नपूर्णा सेक्टर, इंदौर ४५२ ००९

⌘ 'कथाबिंब' का जनवरी मार्च २००१ अंक पढ़ा. कृष्णानंद 'कृष्ण', साधना शुक्ला, राजेंद्र सिंह गहलौत की कहानियां अच्छी लगीं. कृष्ण 'मनु' की व्यंग्य कहानी बेहद अच्छी लगी. इसमें व्यंग्य व कहानी की सुंदर मिलावट देखने को मिली. विषय समसामयिक तथा चिंताप्रद होने के कारण मनुजी सोचने को विवश करते हैं. गजानन देशमुख की लघुकथा दमदार है - मगर मैं समझता हूं 'राजनीति' शीर्षक के बदले में कोई सांकेतिक शीर्षक देने से दायरा व्यापक हो जाता. सुधा अरोड़ा की 'आत्मरचना' रुचिकर है. डॉ. गिरिराज किशोर से बलराम की भेंटवार्ता भी अच्छी लगी. एक अच्छे अंक के लिए बधाइयां कबूल करें. लगातार दो उत्कृष्ट विशेषांकों के लिए देर से ही सही विशेष बधाइयां स्वीकार करें.

**सुभाष चंद्र गांगुली**
८७ जी/१ ए सर्वोदय नगर, भारद्वाजपुरम,
इलाहाबाद २११ ००६

⌘ 'कथाबिंब' का नवीन अंक मिला. पूरी पत्रिका पढ़ गया. दरअसल रचना में अगर पकड़ हो तो आप उससे भाग नहीं सकते. वह बांध ही लेगी... 'कथाबिंब' में तो ऐसी रचनाओं की भरमार देखने को मिली. प्रतिभू बनर्जी की कहानी - 'मां, मुनु कब आयेगी?' हृदय को छूती है. लघुकथाएं अपनी ज़गह ठीक हैं.

भाई हितेश व्यास की ग़ज़ल में 'तू' के साथ 'अब' का प्रयोग पचा नहीं. हां, अनिरुद्ध सिन्हा की ग़ज़लें रेखांकित करने योग्य हैं. कुल मिलाकर अंक संग्रहणीय है... हां, सबसे ज्यादा वज़नदार स्तंभ है 'सागर सीपी' एवं 'पुस्तक समीक्षा', जो इस पत्रिका को धरोहर बना देते हैं.

**चांद मुंगेरी**
२ सी/१-१४१, बोकारो सिटी ८२७ ००१

⌘ 'कथाबिंब' का जनवरी-मार्च २००१ अंक मिला. मैं सपने में भी नहीं सोच सकता था कि पत्रिका मेरे विचारों से इतनी ऊपर होगी. अंक के पृष्ठ पलटते हुए मुझे महसूस हो रहा था कि कोई विशेषांक पढ़ रहा हूं. वाकई आप साधारण अंक भी बड़े अच्छे ढंग से निकालते हैं. आज बाज़ार में उपलब्ध कुछ पत्रिकाओं में इतनी घटिया कहानियां पढ़ने को मिलती हैं कि मन ऊब जाता है. 'कथाबिंब' में प्रकाशित सभी रचनाकारों की सशक्त, उद्देश्यपूर्ण रचनाएं समाज को नयी दिशा देने में सक्षम हैं.

**मोहम्मद मुमताज़ हसन**
द्वारा डॉ. मोना बाबू, रिकाबगंज, टिकारी,
गया ८२४ २३८ (बिहार)

⌘ 'कथाबिंब' का नया अंक मिला. सबसे पहले 'आमने-सामने' और 'सागर सीपी' इत्मिनान से पढ़े. क्या बात है ! दोनों मूल्यवान स्तंभ दोनों में महत्वपूर्ण रचनाएं.

'कुछ कही, कुछ अनकही' में तहलका डॉट कॉम पर बिल्कुल अलग तरह से सोचा है आपने. सामान्य से एकदम हटकर सूत्र वाक्य रहा- 'न्याय प्रक्रिया को सत्वरता प्रदान करके भ्रष्टाचार को कम किया जा सकता है, न कि तहलका मचाकर'. हमारे इंदौर के कथाकार सदाशिव 'कौतुक' की कहानी ध्यान खींचती है. पद्यांश में अच्छा तो है किंतु कम है. स्वीकृति में आप उदार हैं, किंतु इससे पत्रिका के स्तर पर न्यूनता परिलक्षित होती है. जैसा पहले इंदौर के ही भाई सतीश दुबे ने लघुकथा हेतु लिखा, मैं कविताओं के चयन के लिए लिख रहा हूं. पत्रिका के स्वास्थ्य की चिंता यह कहलवा गयी.

**चंद्रसेन 'विराट'**
'समय' १२१, वैकुंठ धाम कॉलोनी, इंदौर-४५२ ००१

⌘ सुपरिचित कथा पत्रिका 'कथाबिंब' का मैं पुराना पाठक हूं. 'जनवरी-मार्च २००१' अंक पढ़ने को मिला.

इस अंक की कहानियों में प्रतिभू बनर्जी की 'मां, मुनु कब आयेगी ?' डॉ. साधना शुक्ला की 'मैकी,' लघुकथाओं में विजय शंकर विकुज की 'तमाशा,' गुरुदत पांडे की 'एनकॉउटर' और कविताओं में रजनी मोरवाल की 'स्वप्न', अशोक सिंह की 'टूटा हुआ आदमी' अच्छी रचनाएं लगीं.

परंतु, इस अंक की सबसे श्रेष्ठ रचना सदाशिव 'कौतुक' की कहानी 'पापा की तलाश में' ने बेहद प्रभावित किया. लेखक महोदय को हमारी ओर से बधाई स्वीकार हो.

उपरलिखित रचनाओं ने जहां प्रभावित किया तो वहीं छब्बीस जनवरी को गुजरात में आये भूकंप पर आधारित कविताएं आंखें नम कर गयीं.

**युद्धवीर गुप्ता**
नजदीक, कॉस्मिक हार्ट स्कूल,
वार्ड नं.-५ कठुआ-१८४ १०१ (जम्मू-काश्मीर)

⌘ 'कथाबिंब' जनवरी-मार्च अंक में 'आमने-सामने' में सुधा अरोड़ा के आत्म-कथ्य तथा 'सागर-सीपी' में गिरिराज किशोर के साक्षात्कार ने सोचने और लिखने के लिए विवश किया. सुधाजी ने बेबाक, लेकिन संयत और शालीन तरीके से नारी-जीवन की उथल-पुथल को रेखांकित किया है.

महिला-लेखन के संदर्भ में अक्सर कहा जाता है कि लेखन, लेखन होता है. उसे पुरुष और महिला-लेखन के खांचों में क्यों बांटना चाहिए ? माना कि सृजन के क्षणों में स्त्री या पुरुष कहां होता है, सिर्फ रचनाकार होता है. लेकिन रचनाकार के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है उसका परिवेश, अर्थात समय-बोध जिसके अंदर परिवर्तन की प्रक्रिया चलती रहती है. इस दृष्टि से सुधाजी का यह कथन सटीक है कि स्त्री ही वह लिख सकती है जिसे पुरुष नहीं लिख सकता, और न ही स्त्रियां ऐसा लेखन कर सकती हैं जिन्होंने जीवन के संघर्ष को एक संवेदनशील औरत (मां, पत्नी, लेखिका) की दृष्टि से न देखा-भोगा हो. स्त्री जीवन के ऐसे कई महीन मुद्दे हैं जिन्हें पुरुष पकड़ ही नहीं पाता. हां, समाज में ऐसे व्यस्त, आत्म-केंद्रित और दार्शनिक वृत्ति के पुरुष हैं जिन्हें शादी की सालगिरह तो क्या अपने जन्म की सालगिरह भी (स्मरण दिलाने के बावजूद) याद नहीं रहती. यदि स्त्री अपने पुरुष को ठीक से समझ सकी है तो उसे पुरुष को उसकी इस भूल के लिए क्षमा कर देना चाहिए. सुधाजी के इस कथन से असहमत होना मुश्किल है जिसका आशय यह है कि सृजन एक बेचैन कवायद-सी है जिसमें उजले-काले क्षण आते रहते हैं. यदि रचनाकार लिखने से वंचित हो जाता है तो उसकी स्थिति विक्षिप्त-सी हो जाती है.

डॉ. गिरिराज किशोर ने अपने साक्षात्कार में मार्के की बात कही है - प्रेम और सेक्स के संदर्भ में. कोई स्वयं को कितना ही शिक्षित, शालीन, आदर्शवादी और प्रेम की उदात्तता का ज्ञाता घोषित करे, सच्चाई यही है कि प्रेम या रोमांस की जो पूर्व या आरंभिक स्थिति होती है, उसमें सेक्स का स्फुरण होता है. प्रेम में सेक्स के आकर्षण से इनकार नहीं किया जा सकता. 'अरेन्ज्ड' शादियों में सेक्स-संबंधों के बाद ही प्रेम उपजता है जो जीवनभर रहता है.

दूसरी रचनाओं में कृष्णानंद 'कृष्ण' की कहानी 'दुर्घटना', गजानन देशमुख की लघुकथा 'राजनीति' तथा भानुमित्र और अनिरुद्ध सिन्हा की ग़ज़लें विशेष रूप से पसंद आयीं. चुनाव, राजनीति और मीडिया के काले पक्षों को आपने संपादकीय में पूरी ताकत से उजागर किया है.

**सूर्यकांत नागर**
८१/२, वैराठी कॉलोनी, इंदौर-४५२ ०१४

# कुछ कही, कुछ अनकही

हर व्यक्ति संवेदनशील होता है किंतु लेखक में संवेदनशीलता का पुट थोड़ा अधिक होता है. सामान्य आदमी से बस इतना-सा अंतर व्यक्ति को रचनाकार बनाता है. वह अपने चारों ओर घटते हुए को बारीकी से देखकर, आत्मसात करके अपने मानस की हांडी में पका कर काग़ज पर परोसता है. अन्यथा सामान्य व्यक्ति और लेखक में कोई भिन्नता कहां होती है !

●

इस अंक की पांचों कहानियां मानवीय संवेदनाओं को रेखांकित करती हुई विचित्र स्थितियों की रचनाएं हैं -'जाने भी दो' में पी. एन. जायसवाल ने एक ऐसी स्थिति उपस्थित की है जिसमें पूरा पुलिस तंत्र, जिसका प्रतिनिधित्व दरोगा अनोखेलाल करता है, बेबस हो जाता है. विजय की 'रणछोड़ सिंह' एक सामंती परिवार की कहानी है जिसके पुरुष तो अय्याशी में लिप्त हैं किंतु सारी वर्जनाएं सिर्फ़ महिलाओं के लिए हैं. इसी तरह 'अंजुम तुम लौट आओ में' संगीता आनंद ने मुसलमान स्त्रियों की दयनीय स्थिति को उजागर किया है. दूसरी औरत की शह पर पति द्वारा छोड़ दिये जाने पर भी फातिमा पढ़ लिखकर अपने पैरों पर खड़ी होती है. इस सबके बावजूद उसका पुत्र अंजुम जो अपने पिता का अक्षरशः प्रतिरूप है उसे छोड़कर चला जाता है. उषा भटनागर ने अपने चिरपरिचित अंदाज़ में क़लम चलायी है. महाकुंभ में अनेक लोग घर की वृद्धाओं को पीछे छोड़ गये थे परंतु रामदेई किसी तरह वापस अपने घर पहुंच कर अपनी मौजूदगी जताती है और भूकंप में तहस-नहस हुए घर के साथ मां का भी मुआवज़ा लेने को उदत्त पुत्र और बहू हतप्रभ रह जाते हैं. 'संदेह के घेरे' दो मित्र परिवारों की कहानी है. इसमें एक अल्पसंख्यक, ईसाई परिवार है. अमन जब कारगिल में दुश्मनों से लड़ रहा था तब कुछ स्वार्थी तत्वों ने इन परिवारों के बीच दरार पैदा कर दी. अपनी पहल द्वारा अमन दोनों परिवारों को संदेह के घेरों से बाहर ले आने में सफल हो जाता है.

●

जनवरी-मार्च २००१ अंक जून में ही तैयार हो पाया था. १ जून से इस वर्ष के बजट में प्रस्तावित नयी डाक-दरें लागू हो गयीं. आशा के विपरीत पंजीकृत पत्रिकाओं को मिलने वाली छूट इस बार पता नहीं क्यों समाप्त कर दी गयी. इस तरह अब डाक-व्यय दुगना हो गया है. विवश हो हमें पत्रिका के मूल्य में थोड़ी वृद्धि करनी पड़ रही है. सुधी पाठकों से निवेदन है कि अपना सहयोग पूर्ववत बनाये रखें.

●

हिंदी पत्रकारिता में अंबाला के 'कहानी लेखन महाविद्यालय' की सकारात्मक भूमिका रही है, इस संबंध में दो मत नहीं हो सकते. महाविद्यालय के प्रणेता व संचालक डॉ. महाराज कृष्ण जैन का ५ जून को निधन हो गया. मेरा उनसे यदा-कदा पत्र व्यवहार होता था. श्रीमती उर्मि कृष्ण की कुछ रचनाएं भी ''कथाबिंब'' में छपी हैं. ''शुभ तारिका'' और ''कथाबिंब'' के विज्ञापन आपसी आदान-प्रदान के रूप में दोनों पत्रिकाओं में कई बार प्रकाशित हुए हैं. महाराज कृष्ण के संपादकीयों को पढ़कर अनेक मर्तबे ऐसा लगता था कि जैसे मेरे मन की बात ही उन्होंने लिख दी है. वे राष्ट्र के प्रति पूर्णतया समर्पित व्यक्ति थे. अभी कुछ दिन पूर्व ''शुभ तारिका'' का डॉ. महाराज कृष्ण जैन श्रद्धांजलि विशेषांक आया. महाराज कृष्ण के संबंध में बहुत कुछ ऐसा जानने को मिला जिसके बारे में मैं अनभिज्ञ था. चार वर्ष की आयु में टाइफायड हो जाने पर उनकी टांगों में पक्षाघात हो गया था. तबसे ५९ वर्ष तक वे पहिया-कुर्सी पर ही रहे. जाने किन-किन स्थानों का भ्रमण किया और हाथ पकड़ कर सैकड़ों को लिखना सिखाया. अपंगता के बावजूद उर्मि कृष्ण ने सब जान-समझकर जीवन साथी के रूप में उन्हें स्वीकारा. पति-पत्नी की जीवटता और जिजीविषा को हमारा शत्-शत् नमन !

●

पिछले अंक में हमने तहलका डॉट कॉम की खोजी पत्रकारिता की चर्चा की थी कि किस तरह झूठी कंपनी बनाकर लोगों को लालच दिया गया. अब यह सामने आया है कि इस सारी प्रक्रिया में केवल पैसों और सुरा का इस्तेमाल ही नहीं किया गया था बल्कि अधिकारियों को फंसाने के लिए 'सुंदरियों' का भी उपयोग किया गया. उम्मीद है कि ज़ल्दी ही इस 'खोजी पत्रकारिता' के पीछे की साज़िश बेनक़ाब होगी.

तहलका का अप्रत्यक्ष लाभ पश्चिमी बंगाल में वामपंथियों को मिला. ऐन चुनाव के पहले यदि ममता, एक ग़लत निर्णय के तहत पाला न बदलतीं तो संभव है उन्हें ही बहुमत प्राप्त होता. तमिलनाडु की उलटबासी सबकी समझ के परे है. परिणामों को लेकर चुनाव पंडितों की सभी भविष्यवाणियां ग़लत सिद्ध हुईं. जयललिता के ऊपर अनेक मुकदमे चल रहे हैं. कुछ में उन्हें सजा भी हुई है. उनकी पार्टी को बहुमत मिला, इसमें कोई शक नहीं किंतु जो व्यक्ति चुनाव लड़ने के लिए अयोग्य करार दिया गया, वह मुख्यमंत्री बन सकता है इससे बड़ा विरोधाभास और क्या हो सकता है ? विरोधाभास का उदाहरण घोटालों का प्रदेश बिहार भी है. वहां का सारा प्रशासन बरसों से पंगु बना हुआ है लेकिन आज़ादी दिलाने का दम भरने वाली कॉन्ग्रेस की बैसाखी के सहारे राबड़ी देवी मुख्यमंत्री की गद्दी संभाले हैं ! छपते-छपते ख़बर मिली है कि आतंकवादियों ने अमरीका के ही वायुयानों का अपहरण कर न्यूयॉर्क की 'वर्ल्ड ट्रेड सेंटर' की दोनों टॉवरों और सुरक्षा भवन पेंटागान पर पूरी अमरीकी सुरक्षा में धूल झोंक कर हमला किया है. यह कुछ ऐसा ही हुआ कि 'मियां की जूती, मियां के सर पर.' यह सारा कुछ बहुत ही सुनियोजित ढंग से सरंजाम किया गया. संभव है कि यह हमला तीसरे विश्व युद्ध का आगाज़ है. लेकिन बदले की भावना से की गयी कोई भी कार्यवाही एक ऐसी श्रृंखला प्रतिक्रिया को जन्म दे सकती है जो सारी मानवता के लिए ख़तरनाक साबित होगी.

अरविंद

कहानी

# अरे जाने दो

उसने नाली की बगल में रिक्शा लगाया. दरवाज़े की चौखट पर बैठे बीड़ी का धुंआ फेंकते बुलाकी का झख मारता चेहरा देखा ओर द्वार पर चढ़ गया. खाट पर बैठते हुए कहा, "अद्धा देना."

"आज अद्धा ही... सो क्या ?"

"पीना-खाना तो सब कमाई-धमाई पर ही होता है न बुलाकी भैया. धूप कितनी तिक्खी होती है आजकल. लूक पर लूक बरसता है. कोई बोल रहा था लूक लगने से खाली बिहारे में अस्सी आदमी मर गया है. अब किसको काल घेरा है कि दुपहर में घर से निकलेगा. और निकलेगा तो कोय ज़रूरी है कि हमरे रिक्शा पर ही बैठेगा. अरे पसिन्जरे नहीं तो कमाई ख़ाक होगी." गमछे से पसीना पोंछते हुए उसने कहा.

"तो धूप में पीने काहे आ गये ? "धूप से चिपचिपी होती कोलतार की सड़क देखते हुए बुलाकी ने पूछा.

"क्या करें भैया ? बदन में बहुत दरद है. सोचा अद्धा भी पी लेंगे तो हल्का हो जायेगा."

"पर आधी बोतल में तुमको क्या होगा. तुम तो डेढ़-दो बोतल डकारने वाले आदमी हो." बोलता कमरे के भीतर घुसनेवाले दरवाज़े पर की चौखट पर से उठ और उसी खाट पर उसके पास जाकर बैठ गया.

"अब क्या करें. टेंट में जितना रोकड़ा होगा उतने पर ही गुमान रहेगा न, फिर पीने के बाद देखेंगे. ज्यादा की ज़रूरत हुई तो तुम हो ही. एक बात जान लो बुलाकी भैया. जब आदमी की कमाई खूब हो जाती है तब तो ऊ दारूओ में डुबकी लगा सकता है और जब पास में टनटनिया नहीं हो तो ..." बोल कर पल भर के लिए चुप हो गया, फिर कहा, "तुमरा वाला धंधा नहीं है न मेरा."

हाथ की अंगुली में फंसी बीड़ी बहुत पहले ही बुझ गयी थी जिसे बुलाकी ने कोने की तरफ फेंक दिया और लंबी सांस खींचते हुए कहा, "मेरा धंधा तो सबसे खराब धंधा है. यह कोनो भला आदमी का धंधा है गुदड़ा ?"

"धंधे से क्या लेना-देना है भैया रोकड़ा तो आता है न. अरे खाली लायसंसे नहीं है न, फरक क्या पड़ता है. खुल्लम खुल्ला बेचते ही हो. आज तक कुछ बिगड़ा है तुमरा ? पुलिस-हाकिम -हुकूमत किसी को भी आंय बांय करने देते हो ?... सबको बुलू बुलू नोट से बुहार देते हो." इतना बोलकर उसने कान पर से बीड़ी का अधजला टुकड़ा उतारा और सलाई के लिए बुलाकी की तरफ हाथ बढ़ाया. सलाई ली. बीड़ी सुलगायी. सुट्टा मारा और कहा, "मेरा देखो, भोरे से दुपहर तक खून जलाया तो तीस टका पुरते पुरते धतपत हो गया. डेरा घुसने से पहले एक दस टकिया कमीज़ के हथ्थे में छिपाया. बीस मौगिया को दिया तब इधर आया हूं. ऊ तो पहले ही से मेरी जेब मे दो रुपये का खुदरा था. नय तो दालमोटो नै खरीद सकते. घबुआ तो चवन्नी भी उधार नहीं देता है."

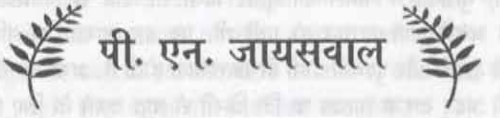


उसने बुझी बीड़ी मुंह में लगाकर दम खींचा. जानी-पहचानी दुर्गंधयुक्त हवा मुंह के खोखल में भर गयी. बीड़ी का बुझा टुकड़ा फेंक कर कमीज़ के हथ्थे से मुड़ा-तुड़ा दस टकिया निकाला और बढ़ाते हुए कहा, "अब उठो बुलाकी भैया बदन टूट रहा है."

नोट लेकर बुलाकी उठा और कमरे के भीतर जाने लगा तो वह भी पीछे-पीछे साथ हो गया.

वह बहुत ही छोटा कमरा था जिसमें एक छोटी चौकी थी. चौकी पर एक गंदा सा बिस्तर था. शायद बुलाकी उसी पर रात में सोता था. चौकी की बगल से चलने लायक रस्ता था. बुलाकी ने अंदर से किवाड़ के पल्ले को सटाया. अब दोनों आगे-पीछे साथ-साथ कमरे से निकल कर आंगन में दाखिल हुए. आंगन में इधर-उधर कई बोरे के टुकड़े और कुछ फटी-पुरानी चटाइयां पड़ी थीं.

एक चटाई खींच कर आंगन के एक तरफ फूस की छपरी में घुस गया वह. छपरी के कोने मे ढेर नये चुक्कड़ पड़े थे. आगे बढ़कर एक नया चुक्कड़ उठाया उसने. फूंक मारकर राख साफ की और चटाई पर आ कर बैठ गया. जेब से दालमोठ की पुड़िया निकाली. एक चुटकी मुंह में डालकर कुटुर कुटुर करने लगा.

आंगन में दाखिल होकर बुलाकी छपरी के सामने वाले कमरे का ताला खोल कर घुस गया था. अब वह कांख में अद्धा दबाये कमरे का ताला लगा रहा था. ताला लगाकर बुलाकी उसके पास आया और बोतल रखते हुए एक तरफ बैठ गया.

दारू हलक के नीचे उतरी तो मुंह का स्वाद कसैला हो गया. उसने दालमोठ के दाने मुंह में डाल लिये.

बुलाकी ने दो बीड़ियां सुलगा ली थीं. एक उसकी तरफ

बढ़ाते हुए पूछा, "आजकल अंकरा नहीं आता है ? दरोगवा का डंडा खाने के दिन से जो गायब हुआ अब तक गायबे है !"

दूसरा चुक्कड़ पीने के बाद अब वह बीड़ी का धुंआ खींच रहा था. कुछ बोलना चाह ही रहा था वह कि सड़क की तरफ से आनेवाले गुलगपाड़े ने उसके कान खड़े कर दिये.

चौकन्ना बुलाकी तो बाहर की तरफ लपक चुका था. सटाये पल्ले की फटोर से लोगों की एक छोटी सी भीड़ को पूरब की तरफ जाते हुए बुलाकी ने देखा, कारण समझ में नहीं आया, तब धीरे से किवाड़ के दोनों पल्लों को थोड़ा-सा खोला और झांकने लगा. देखा, -- सड़क पर दरोगा अनोखेलाल के पीछे-पीछे लोग हुजूम में थे. हुजूम के लोग आपस में बातचीत भी कर रहे थे. बुलाकी तक बातें आ नहीं रही थीं, इसलिए उसकी समझ में कुछ नहीं आया. एक बार अनोखेलाल ने उसकी दुकान पर रेड किया था. बुलाकी ने मामले को बुहार दिया था. तब से अनोखेलाल से अच्छी जान-पहचान हो गयी थी. पर वह जानता था पुलिस की दोस्ती और दुश्मनी दोनों ही ख़तरनाक होती है. अभी वह चेहरे को अंदर करना चाहता था कि किसी से बात करने के लिए पीछे मुड़ते अनोखेलाल से उसकी आंखें लड़ गयीं.

वे इशारे से बुलाकी को बुला रहे थे.

बुलाकी की अंगुलियों के मध्य फंसी बुझी बीड़ी गिर गयी थी. वह हाथ जोड़े द्वार पर आ गया. अनोखेलाल ने फिर इशारा किया था. "आ रहे हैं हुजूर!" बुलाकी ने चिल्लाकर कहा और वापस कमरे में लौट गया.

सड़क की टोह लेने गुदड़ा भी बुलाकी के पास आकर खड़ा हो गया था. दूसरे पल्ले की फटोर से उसने भी दारोगा को देख लिया था. द्वार पर से बुलाकी के वापस लौटते ही उसने पूछा, "दरोगवा भीतर आ रहा है क्या ?"

"अरे नहीं तुम जाकर आराम से पियो कोई दूसरी बात है. रोब-रुतबा बरकरार रखने के लिए पुलिसवाले बेवज़ह भी बुला लेते हैं."

उसने बुलाकी की बात का तौल-जोख किया और वापस चटाई पर आते हुए सोच रहा था, दरोगा के पास जाने पर बुलाकी को लौटने में देर हो सकती है. अभी तक जो कुछ हुआ था उससे आया सुरूर भी साफ हो गया था. इस अड्डा से कुछ होने वाला नहीं था.

बुलाकी से उधार खाते में एक बोतल लेने के बाद ही उसे चैन हुआ. जाते-जाते बुलाकी ने उसे समझाया, "तुम परेशान मत हो. अंदर आने का कोई चांस नहीं है. मैं बाहरी किवाड़ की जंजीर बाहर से चढ़ा दूंगा."

गुदड़ा ने बोतल ले ली थी. बुलाकी की बात सुन ली थी.वह सब तो ठीक लगा था उसे, पर अंदर ही अंदर उसका पत्तर सटक

श्रीरामजी त्रिपाठी

*२० जनवरी, १९४९, सजौर, भागलपुर (बिहार);*
*विज्ञान स्नातक*

**लेखन** : *विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में एक दर्जन कहानियां स्वीकृत अथवा प्रकाशित. कहानी-संकलन शीघ्र प्रकाश्य. कई नाटक एवं कविताएं प्रकाशित. 'कविता-९८' के कवि. अंगिका में भी समान रूप से लेखन.*

**संपादन** : *परिणिता पत्रिका (हिंदी).*


रहा था. बुलाकी चला गया तब चटाई पर आ कर बैठ गया वह. पीने लगा.

अद्धा ख़त्म हुआ तो बोतल खुली. पीने को तो वह पी रहा था, पर हर चुक्कड़ पर पुलिसिया डर डंडा लिये खड़ा दिखाई देता जिसे वह मुंह की कड़वाहट के साथ समेटने की कोशिश करता. जांघ में खुजलाहट हुई तो खुजलाते हाथ धोती के अंदर घुस कर चूतड़ सहलाने लगे. एक ख़ास ज़गह पर उसकी अंगुलियां पतली-लंबी-कड़ी गांठ छूते हुए कड़ेपन को दबाने लगीं. ज़ोर से दबाया, दुख गया. इसी दरोगा ने चूतड़ पर हंटर मारा था. पहले घाव हुआ था. बाद में गांठ बन गयी. उसके ज़हन में एक गाली रेंग गयी. उस दिन उसके साथ-साथ अंकरा, अघोरिया, रसूलबा, और बुदकिया पर भी हंटर बरसा था. दरोगा ने गंदी-गंदी गालियों से सबको नहला दिया था. उस दिन सभी पियक्कड़ गिरते पड़ते जान बचाकर पिछले दरवाज़े से भागे थे. पिछले दरवाजे की याद आते ही दबा हुआ भय फिर खड़ा हो गया. वह उसी तरफ देखने लगा. नशे की परत उसकी आंखों पर चढ़ गयी थी, इसलिए पिछला दरवाजा बंद या खुला है, उसे साफ-साफ दिखाई नहीं पड़ रहा था. बोतल पकड़े ही उठ गया वह. कदमों में संतुलन बनाये पिछले दरवाजे के पास पहुंचा. ताला छू कर देखा, बंद था. कुछ देर तक ताले को देखता रहा. हिलाता-डुलाता रहा, फिर वहां से चला. चलते-चलते बाहरी किवाड़ के पास आया. खींच कर खोलना

चाहा. नहीं खुला तब याद आया, बाहर से सांकल चढ़ी है. ओंठ बुदबुदा उठे, 'बुलकिया,... मुसकल (चुहादानी) में फंसा गया.

वह चौकी पर बैठ गया. कुछ-कुछ पलों के अंतराल पर कभी पल्ले की फटोर से सड़क की तरफ झांकता. कभी किवाड़ पर गुर्राता. बीच-बीच में मुंह से बोतल लगा कर घूंट मारता.

❑

जंजीर चढ़ा कर जब बुलाकी सड़क पर आया था, तब उसने पूरब की तरफ़ थोड़ा आगे सड़क के किनारे बहुत से लोगों को देखा. सड़क की दूसरी ओर अनोखेलाल भी कई लोगों से घिरे दिखे. वैसे तो उसे अनोखेलाल ने ही बुलाया था पर उस तरफ़ न जाकर सीधे सड़क की पूरब की ओर बढ़ गया.

अभी कुछ ही कदम वह आगे बढ़ा था कि एक तेज़ दुर्गंध नाक से होती हुई फेफड़े और मस्तिष्क में भर गयी. कंधे पर रखे गमछे से नाक मुंह ढकते भीड़ के पास पहुंचा. भीड़ वृताकार थी, जिसके केंद्र में एक लाश थी. लाश फूली हुई लग रही थी. एक फटी-पुरानी गंदी चादर से लाश ढकी थी. लाश की कलाइयां एक साथ रस्सी से बंधी हुई थीं. दोनों पैर भी टखने पर एक साथ बंधे हुए थे. बंधनों के नीचे से लंबा, मज़बूत सूखे बांस का टुकड़ा फंसा था, जिस पर लाश टांग कर लायी गयी थी. भीड़ की परिधि पर दो डोम थके-पसरे बैठे थे. वृत की परिधि पर खड़े, लोग आपस में धीरे-धीरे बात कर रहे थे. उन्हीं लोगों से बुलाकी को पता चला कि लाश किसी अज्ञात व्यक्ति की है जो एक इनारे से निकाली गयी है.

अनोखेलाल के पास से सड़क पार कर एक सिपाही वृत की परिधि पर आया और उसने डोमों को संबोधित किया, "चलो उठाओ."

कुछ देर दोनों डोम सिपाही को देखते रहे, फिर उनमें से एक ने कहा, "अब हम लोगों से लाश नै उठेगी."

सिपाही अकबकाया, पर ज़ल्दी ही संभल भी गया. कहा "अरे उठाव न. पोस्टमार्टम हाउस है ही कितनी दूर अब. ज्यादा से ज्यादा एक-डेढ़ किलोमीटर. नख़रा काहे को कर रहा है. दारोगा जी यहां आ गये तो बिगड़ जायेंगे."

"कह न दिया. अब लाश उठना हमारे बूते के बाहर है," फिर वही डोम अपनी क्रिस्टलाइज्ड आवाज़ में बोला.

सिपाही का चेहरा तमतमा आया. कुछ बोला नहीं. गुर्राती आंखों से डोम को देखते हुए झटके से मुड़ कर सड़क पार दारोगा जी की ओर चला गया. सिपाही के साथ-साथ भीड़ की आंखें दारोगा अनोखेलाल के पास पहुंचीं. सिपाही रिपोर्ट देते दिखा.

अनोखेलाल लंबे-लंबे डग भरते सड़क पार कर भीड़ की परिधि पर पहुंचे और अपनी लठमार भाषा में डोम से पूछा, "क्यों रे तुम लोग लाश काहे नहीं उठा रहा है ?"

"अब हम लोगों से लाश नै उठेगी हुजूर." बिना लाग-लपेट के पहले वाली आवाज़ में वही डोम बोला.

"तब जायेगी कैसे ? ...अब तुम लोगों का बाप आकर लाश उठवेगा ?"

"लाश तो हम ही उठयेंगे हुजूर. पर बिना पीये अब उठ ही नहीं सकेंगे हुजूर."

अनोखेलाल बौखलाये. डोम की बातों में दृढ़ता थी. कोई जिद्द पर अड़ जाये यह बात उन्हें पसंद नहीं थी. वे डांटने के मूड में आ गये, फिर सोचा ऐसा करने से डोम भाग भी सकते थे और भाग गये तो धोबी का कुत्ता बन जायेंगे. पर बात बहुत ही गड़बड़ हो गयी थी. उनके रोब-रुतबा को डेढ़-दो सौ आदमियों के बीच डोम नंगा करने की कोशिश कर रहा था. कनखियों से भीड़ की आंखों में देखा. हर आंख में व्यंग की इबारत थी. तिलमिला गये. उनका दिमाग तेजी से काम कर रहा था. कुछ क्षण सोचने के बाद अपने को थोड़ा सामान्य करते हुए डोम के बिलकुल ही पास आ गये और पोटने की कोशिश की, "जिद्द मत करो. पहले लाश पहुंचा दो, फिर जम कर पीना."

"कैसे पहुंचायें हुजूर. देख नै रहे हैं कि लाश फूल कर कित्ती भारी हो गयी है. कंधे पर बांस रखते ही हड्डियां तक कचकचा उठती हैं. दुर्गंध तो इतनी है कि लगता है दिमगवे फट जायेगा."

अनोखेलाल की समझ में कुछ नहीं आ रहा था. डोम अड़ियल टट्टू बने थे. उन्होंने लंबी सांस खींची. कहा, "क्यों जिद्द पर अड़े हो. अरे पहले लाश पहुंचा दो फिर पीना. फिर इस ज़गह शराब मिलेगी कहां. कलाली तो दूर है."

"आप माल निकालिए न हुजूर. अब कोय ज़रूरी है कि कलाली का ही पीयें. आस-पास भी मिलता है हुजूर." वह डोम बोला.

डोम बुलाकी की दुकान के बारे में जानते थे. इसे तो अनोखे लाल समझ गये, पर डोम द्वारा सरेआम पीने के लिए माल मांगना उनके लिए बेइज्जती की बात थी. मन किया मुंह के अंदर हाथ डाल कर जीभ पकड़ कर खींच लें. पर विवश थे यहां. अपनी जेब से माल निकालकर आज तक उन्होंने सिर्फ अपने से ऊंचे ओहदेवाले अफसरों या घर में बीवी को दिया. तीसरे किसी को देने का दस्तूर कभी रहा नहीं. पर अभी डोमों को नाराज़ रखना ख़तरे की बात थी, वे यह भी अहसास कर रहे थे कि सैंकड़ों आंखें तीर की तरह चुभी थीं उनके चेहरे पर. अब उनके दिमाग को एक ही रास्ता नज़र आ रहा था कि डोम को हराया धमकाया जाये. उन्होंने गिरगिट की तरह रंग बदला. अपनी आंखें लाल-पीली करते हुए डोमों में लरज़िस डालने की कोशिश करते हुए

कहा, "चुपचाप लाश उठाओ. ज्यादा आंय-बांय किया तो तुम दोनों की भी अब लाश ही उठेगी यहां से."

डोम समझ रहे थे कि यह सब दारोगा जी की गीदड़ भभकी है. ऐसी पुलिसिया चित्त-पट्ट का खेल कई बार देखा था. वैसे वे सचमुच में इस समय बिना पीये लाश उठने की स्थिति में थे भी नहीं. लाश ढोते-ढोते थक गये थे. दूसरा डोम जो अब तक चुप था, वह अपने साथी डोम से उम्र में थोड़ा बड़ा लग रहा था - एकाएक जांघ पर पड़ा गमछा उठाया. चेहरे का पसीना पोंछा और ढिठाई से कहा - "बिछा दो हमरी लाश हुजूर पर बिना पीये अब उठइये नै सकेंगे."

अपनी बात कहते-कहते चूतड़ की धूल झाड़ कर खड़ा हो गया वह और अपने साथी से आदेशात्मक स्वर में बोला, "चल रे डमखोलिया अब हुजूर जानें या ई लाश जाने."

फुस्स! अनोखेलाल की हवा निकल गयी. डोमों के चक्रव्यूह में फंस गये थे. भाग जाने पर फज़ीहत ही फज़ीहत थी. उनकी स्वेदग्रंथियों ने बलबला कर पसीना छोड़ दिया था. ऐसी कसमसाहट के मध्य जब आदमी घिर जाता है तब उसकी ऐंठ ढीली होती है और समझौते की रस्सियां पकड़ने के लिए लाचार हो जाता है. वे पस्त पड़े की स्थिति में आ गये थे. जमीन पर बैठ डोम भी खड़ा होने के लिए कमर सीधी कर रहा था. अब अनोखेलाल के पास दूसरा कोई उपाय नहीं था. उनकी आंखें बुलाकी को खोजने लगी थीं.

बुलाकी शुरू से सारा माजरा देख रहा था. अनोखेलाल की बेबसी पर पहले तो उसे खूब मजा आया था. पर अंत की स्थिति जैसे ही उसकी समझ में आयी, वहां से हट जाने में ही उसे अपनी भलाई सूझी. अब वह वहां से खिसकता कि अनोखेलाल उसके पास पहुंच गये. हाथ पकड़ते भीड़ से थोड़ा अलग ले गये और कहा, "भाग कहां रहे थे ? डोम पीयेगा."

"जी ! यहीं ला दूं ?"

"चोट्टे की तरह बात करते हो. यहां भीड़ में बैठ कर मैं उसे पिलाऊंगा ?" बुलाकी सकपकाया. कुछ बोला नहीं.

"अपनी दुकान के भीतर दोनों को ले जाओ. वहीं बैठ कर पिला देना."

"जी." न चाहते हुए भी बुलाकी ने सहमति में सिर हिलाया.

डोम पीकर टन्न हो गये थे और अब भी पीने के मूड में ही थे. इस बीच कई बार सिपाही आया - गया. चलने को कहा. पर दोनों डोम तो खूंटा ठेंक कर पीने बैठे गये थे. हिले तक नहीं.

डोम के समीप ही गुदड़ा भी पी रहा था. इस समय वह द्वार पर के खुले किवाड़ से सड़क की तरफ देख रहा था. यूं तो वह आश्वस्त था कि दारोगा जी आज डंडा चला नहीं सकते, बावजूद उन्हें द्वार पर चढ़ते देखकर कलेजा जोर से धड़धड़ाने लगा. हड़बड़ाकर उठ खड़ा हुआ. टगते-डमगमाते दरवाजे की बगल में इस तरह खड़ा हो गया कि दारोगा जी की नज़र उस पर नहीं पड़े.

"उठो. अब पीना बंद करो." आंगन में घुस कर डोम तक आते हुए अनोखेलाल बोला.

"बस. अब एकदम फीट हैं हुजूर. ....बोतल में दुचार घोंट है." बोतल उठा कर अपनी आंखों के पास लाकर नशे की झोंक में डमखोलिया ने कहा, "ख़तम कर के तो चलबे...करेंगे."

"पी के यहां मत घुलट जाना. लाश भी उठनी है."

"ई दुकानों पी जायेंगे तो नशा नै होगा," डमखोलिया ने अपने साथी की तरफ़ चेहरा घुमाते हुए पूछा, "क्या नशा होगा गज्जू भैया ?"

"एकदम नहीं होगा....हम ठीके बोलते हैं न हूजूर..."

"अरे खाली बकर-बकर करते हो गज्जू भैया. ...हुजूर को भी एक-दो चुक्कड़ दो."

गज्जू ने दारोगा जी का चेहरा देखा. ओठों पर मुसकान की एक रेखा उभरी तो तेजी से फैलती हुई पूरे चेहरे पर पसर गयी. पूछा, "दें हुजूर ?"

"चौप ! देखते नहीं हम वरदी में हैं. वरदी में दारू नहीं पीया जाता है. ऐसा करना गैरकानूनी है."

डमखोलिया हंसा. हंसते-हंसते जमीन पर लुढ़क गया. हंसी स्थिर हुई तब उठ, कहा, "ई कोनो बात है हुजूर. ...जब वरदी में अच्छा खराब सब करबे करते हैं तो दारू पीने में का एतराज़ है ?"

गज्जू ने अपने कंठ से बहुत ही धीमे स्वर में गाने की एक धुन निकालते हुए चुक्कड़ में दारू निकाल कर अनोखेलाल से कहा, "यह एक नंबर की चीज़ है हुजूर."

"मैं तुम लोगों के साथ बैठ कर दारू पियूंगा."

इस बार गज्जू हंस पड़ा. खूब जोर-जोर से हंसा. हंसी के मध्य ही कहा, "दारू तो दारूए है न हुजूर. अब हमरे साथ पीजिए या कलक्टर साहब के साथ."

"जब साहब पीना नहीं चाहते हैं तो तुम लोग ऐसे काहे कर रहे हो ?" बीच में टपकते हुए बुलाकी बोला.

"ऐ, हमरे और हुजूर के बीच तुम कहां से आ गया ? पीना-खाना हम समझेंगे या हुजूर." गज्जू तमक कर बोला था.

"ख़बरदार. अब आगे अगर कुछ बोला तो..." नशे की झोंक में डमखोलिया ने कहा.

बुलाकी फिर कुछ कहना चाहता था, पर उसके पहले ही अंगुली दिखाते हुए गज्जू गुर्राया, "एकदम नहीं बोलना है..."

"हां, एकदम नहीं..." डमखोलिया भी अपनी अंगुली भाले की तरह किये था.

बुलाकी ने इन संवादों के मध्य तीन-चार बार अनोखेलाल की तरफ़ देखा था और अपेक्षा की थी कि वे कुछ बोलें, पर जब वे कुछ नहीं बोले तब चुप रह गया.

"लीजिए हुजूर." गज्जू ने चुक्कड़ उठाया और खुशामद की, "अरे एक घोंट लेकर तो देखिए. गजूबा को यादे रखिएगा. कि क्या चीज़ पिलाया था."

"अब यहां तक अइये गये हैं तो एक-दु घोंट से परहेज़ का हुजूर." डमखोलिया ने शह दी.

"तो हो जाय हुजूर..." चुक्कड़ अनोखेलाल के सामने लाते हुए गज्जू नशे की लहर में बोला.

लालच की लार घोंटते हुए अनोखेलाल ने गज्जू को आंखें तरेरी.

"ई भी कोनो बात हुई हुजूर... आख़िर दारूओ की कोय इज्जत होती है और आप जैसा हाकिम इसकी इज्जत नै करे तो इसकी बेइज्जती ही है न... और...दारू की इज्जत ही चली गयी तो हम लोगों के पास बचेगी क्या ? ...का रे डमखोलिया ?"

"सौ पैसे ठीक... एकदम सौ पैसे ठीक कहा गज्जू भैया." जमीन पर मुक्का ठेंकते हुए डमखोलिया ने कहा और अनोखेलाल की अंगुली पकड़कर बैठने के लिए खींचा.

अनोखेलाल चटाई पर ऐसे बैठ गये जैसे कमर की स्प्रिंग टूट जाने के बाद कोई खिलौना 'गद' से गिर जाता है. उनके मुंह में लार का सोता फूट रहा था. चुक्कड़ देख-देख कर मन लुक-पुक कर रहा था. उनके धैर्य का दम टूट रहा था.

गुदड़ा दरवाजे की बगल में सटा खड़ा था और सामने का सारा माजरा देख रहा था. आनंदित हो रहा था. आनंद को बढ़ाने के लिए बीच-बीच में अपने साथ लायी बोतल से घूंट भी मारता था. हर घूंट के साथ उसके अंदर का जमा भय पिघल रहा था. नशे में घुल रहा था. मन हो रहा था दारोगा के चूतड़ पर इतने जोर से बोतल मारे कि गांठ उभर आये. उसके चूतड़ पर बनी गांठ से भी बड़ी गांठ. पर उसकी हिम्मत नहीं हुई. हां, दारोगा जी के चटाई पर बैठते-बैठते सारा डर घुल गया था. साहस बनाये बोतल को कस कर पकड़े धीरे-धीरे अपने को संतुलित करते वह अनोखेलाल के पीछे आ खड़ा हो गया और झुकते हुए अनोखेलाल के कंधे के ठीक ऊपर से अपना चेहरा उनके चेहरे के पास लाया और कहा, "अब देरी काहे को हुजूर..."

गुदड़ा के मुंह से निकली दारू की दुर्गंध की भभक, मुंह खुले दारू की बोतल जैसी थी जो सीधे अनोखेलाल के मुंह-नाक पर पड़ रही थी. उनका मुंह खुला था इसलिए भभक मुंह और कंठ से सट से पार हो गयी जैसे राजधानी एक्सप्रेस कोई छोटी सुरंग पार करती है

अनोखेलाल गुदड़ा से कुछ पूछते, उसके पहले की खुले मुंह में लार का सोता फूटा जिसे समेटने के लिए उन्हें अपना मुंह बंद कर लेना पड़ा.

## ओ अस्ताचल गामी सूरज

✍ चंद्रसेन 'विराट'

*ओ अस्ताचलगामी सूरज*
*हम कृतज्ञ, नत हैं, प्रणाम लो !*
*अर्घ्य चढ़ाये थे हमने ही*
*उदयाचल की उस उठान को*
*नमस्कार कर रहे तुम्हारी*
*अस्ताचल की इस थकान को*
*परहित जलकर, चलकर तुमने*
*यात्रा पूरी की, विराम लो !*
*आंखें नहीं मिलाता कोई*
*ऐसा था तब तेज तुम्हारा*
*सांध्यकाल ढलती बेला में*
*सिमट रहा अब वैभव सारा*
*बुला रहा नैपथ्य तुम्हें अब*
*सूत्रधार का सूत्र थाम लो !*
*तुम थे शिखरारूढ़ तुम्हारी*
*जय जयकार नहीं भूले हैं*
*ऋणी रहेंगे सदा तुम्हारे*
*हम उपकार नहीं भूले हैं*
*जीवन है ऊष्मा, प्रकाश से*
*प्रणत समूचा धरा-धाम लो !*
*तुम क्या तपे कि इस धरती की*
*वनस्पती घन धान्य पका है*
*आतप से ही ऊर्ध्व पतित हो*
*वर्षा में जल बरस सका है*
*योगी तुम निष्काम कर्म के*
*ये श्रद्धाएं आत्मकाम, लो !*
*हर चढ़ाव का है उतार भी*
*अगर शिखर है तो घाटी है*
*रात बनी हर एक प्रात की*
*यही सृष्टि की परिपाटी है*
*यह कृतज्ञता का ज्ञापन नित*
*विरद-गान की श्रुति ललाम लो !*

'समय', १२१, वैकुंठधाम कॉलोनी,
इंदौर-४५२ ००१

डोम पीने के लिए प्रोत्साहित कर रहे थे. खुशामद कर रहे थे. फिर जो होना था, हुआ. एक चुक्कड़ लिये तो अगला चुक्कड़ रुका नहीं.

अनोखेलाल के घूंट मारते रहने पर सबसे ज्यादा खुश गुदड़ा हुआ. वह अब सामने आकर बैठ गया और गर्दभ राग में गाने लगा,- *"लालटेम टेबुल पर झलक मारे लालटेम*
*हो लालटेम टेबुल पर झलक मारे..."*

❐

जो कुछ हुआ वह बुलाकी नहीं चाहता था. उसे तो सबसे बड़ा ख़तरा यह हो गया कि कहीं दारोगा जी को यहां आने की आदत हो गयी तो धंधे का बेड़ा ही गर्क हो जायेगा. पुलिस विभाग की आंखें भी चढ़ जायेंगी. पर अब वह कर भी क्या सकता था. उठाया तो नहीं जा सकता था उन्हें. उठाया तो सिर्फ उन्हें ही जा सकता है जो अनजाने में या असावधानी से भूल वश गिरे हों और उन्हें भी जिनको अपने गिरने का अफसोस हो या वे भी जो उठना चाहते हों.

यहां तो अनोखेलाल अनोखा बन गये थे. नयी बोतल निकलवा कर घोंट रहे थे.

कुछ ही देर बाद अन्य पियक्कड़ों की अपेक्षा अनोखेलाल का रंग जरा ज्यादा गहरा हो गया. संभवतः अब वे अपनी टांगों पर भी खड़े होने की स्थिति में नहीं थे. पर एक बात थी, उन्हें अपनी ड्यूटी का एहसास अब भी था, तभी तो बहकती आवाज़ में डोमों से कहा, "उठ रे... अब दुकाने तो नहीं पी जायेगा. ...चल, लाश उठा."

"उठ पहलवान... अब लाश को..." बोतल ढनकाते गज्जू खड़ा हुआ और डमखोलिया से कह ही रहा था कि खड़े होने की कोशिश में अनोखेलाल 'गद' की आवाज़ के साथ गिर पड़े.

चोट की परवाह किये बिना वे चिल्लाये "उठ रे.... जाऽ...लाश उठा."

"अब तो लाश के साथ आपको भी उठा सकते हैं हुजूर. खड़े होते-होते डमखोलिया ने कहा."

गुदड़ा बमका, "चौप...तुम लोग जिस लाश को उठा कर लाये हो उसे ही ले जाओ. ...हुजूर की लाश मेरे रिक्शे पर जायेगी..."

"यस...यस...यस," झूमते अनोखेलाल ऐसे बोल रहे थे मानो गुदड़े के आवेदन पर स्वीकृति लिख रहे हों.

दोनों डोम वहां से निकल गये. बुलाकी की मदद से गुदड़ा ने अनोखेलाल को किसी तरह रिक्शे पर बैठाया. हाथ के बल से रिक्शे को खींचते हुए किसी तरह लाश के पास पहुंचा. रिक्शे के खड़े होते ही पहले से उपस्थित दर्शकों ने वृताकार घेर लिया.

उधर बड़े वृताकार भीड़ के मध्य डोम लाश को कंधों पर उठा कर संतुलित कर रहे थे. रिक्शे के वहां पहुंचते ही अधखुली आंखों से बड़े वृत की तरफ देखते हुए अनोखेलाल चिल्लाये, "सामने से हट जाओ... लाश जाने दो....ऽ..."

ड्राइविंग सीट पर गुदड़ा बैठ गया था. उसने टुनटुनी बजाई और अनोखेलाल की तर्ज पर ही रिक्शे के सामने खड़े लोगों पर चिल्लाया..."अरे जाने दो...ऽ..."

वृत्तों ने अपने-अपने सामने के रास्ते खोल दिये.

सरगम, ३००, कोल्ड स्टोर रोड, जवारीपुर, तिलकामांझी, भागलपुर - ८१२००१ (बिहार)

लघुकथा

# सत्य : एक कटी पंतग

## ✍ आनंद बिल्थरे

वालब्रह्मचारी राधेश्यामजी के निधन का समाचार सुनकर, सारा शहर स्तब्ध रह गया. धड़ाधड़ सारी दूकानें बंद हो गयीं और भीड़, राधे निवास पर जुटने लगी.

रात, राधेश्यामजी, बेरोज़गार युवकों के सम्मेलन में भाषण देकर लौटे थे, और फिर सुबह का सूरज नहीं देख पाये.

वे सत्तापक्ष के एक, सुदृढ़ स्तंभ थे. उनके आकस्मिक निधन के सबंध में, ढेरों अटकलें, लगायी जा रही थीं.

शवयात्रा में, एक चौथाई शहर सम्मिलित था. शवयात्रा, जिस राह से निकलती, लोगों की आंखें छलक पड़तीं. "रामनाम सत्य है," के समवेत स्वर से वातावरण आर्द्र हो रहा था. लोग, ईर्ष्या कर रह थे, - मौत हो तो ऐसी.

अचानक, कोर्ट वाले चौराहे पर एक और अर्थी आती दिखाई दी. उसके साथ सिर्फ पंद्रह-बीस नौजवान थे. सभी के चेहरे गमगीन थे. वे अपने शब्दों में आग भरकर कह रहे थे - "सत्त की यही गत्त है."

बड़ी अर्थी ने, इस छोटी अर्थी की ओर हेय दृष्टि से देखा, और अपनी रौ में आगे बढ़ गयी.

कहते हैं, गयी रात, भाषण से लौटते वक़्त उनके साथ, सुधाकर नाम का एक लड़का भी था. बहन को नौकरी और स्वयं को रोज़गार दिलाने के आश्वासन पर, पिछले छः माह से, वे उनका शोषण करते जा रहे थे. पिछले दिनों, उसकी बहन ने, बदनामी के डर से आत्महत्या कर ली थी. गयी रात, लड़के ने उन्हें, शराब के साथ ज़हर दे दिया था और घर लौटकर खुद भी ज़हर खा लिया था.

झूठ की पतंग, आजकल इसी तरह आसमान छू रही है और सत्य कटी पतंग की तरह, छतों, ठूंठों, तारों में उलझ, अपने जीवन की, अंतिम घड़ियां गिन रहा है.

प्रेमनगर, बालाघाट ४८१ ००१

कहानी

# रणछोड़ सिंह

कोठी में सुजाता को एक अजीब सी गंध महसूस हुई. गंध जो जिस्म से लिपटती हो किंतु सांसों में पहुंच गहरा बेगानापन महसूस कराती हो. उसे लगा कि जिस कोठी को सात साल पहले छोड़ते हुए दुख हुआ था. अब उसमें से सम्मोहन निष्कासित हो गया है. बड़ा सा ड्राइंग रूम सूना था, नौकर सामान ऊपर वाले किसी कमरे में रखने के लिए ले जा रहा था.

सुजाता ने खुद को अंदर ही अंदर संभाला... मन तो त्रिपार्श्व की तरह होता है. किरण निकलती है सात रंग में फूटकर. सूने कमरे में अब जब न काकाजी हैं, न नयी मां और न ही दादी तो भावना से रहित जड़ता में रंग कैसे हो सकते हैं ? मगर कैसी अजीब बात है कि इन दीवारों ने उसे जाने के बाद कभी पुकारा ही नहीं. उसके तोतले और संजीदा होते अतीत क्या कभी ईको बनकर नहीं गूंजे होंगे ? गूंजते होंगे, वह दूर थी और दूसरों ने सुने नहीं होंगे.

बस आते रहते साल में दो-चार ख़त नयी मां के जिनकी सुंदर इबारत धीरे-धीरे सात साल में घसीट सी बन गयी. ख़त भी क्या शून्य भर सकते हैं ? भर सकते हैं अगर उनमें भावना हो. सिर्फ समाचार और वो भी सपाट... तुम्हारी दादी अब काफी कुछ भूल जाती हैं. तुम्हारे काकाजी वकालत में खूब तरक्की कर रहे हैं. मैं ठीक हूं ....से लेकर...अब कभी-कभी मेरी तबियत ख़राब हो जाती है. तुम्हें यहां सब खूब याद करते हैं. उन सबका और मेरा ढेर सारा प्यार.

और अंतिम ख़त. मेरी तबियत ख़राब रही इसलिए काफी दिनों ख़त नहीं लिख सकी. हां, विवाह के बारे में क्या सोचा है ? अपनी दादी की निगाह में तो तुम अब भी बच्ची हो. उम्र भी नब्बे हो रही है उनकी जहां यादें रुक जाती हैं. काकाजी को तुम्हारी बहुत फिक्र लगी रहती है. तुम जानती हो कि राजपूत घरानों में लड़की के प्रति कितनी चिंता रहती है.

जीना चढ़ते हुए सोचती है...फ़िक्र. काकाजी ने अपनी फ़िक्र क्यों नहीं की ? तमाम ख़तों में पूछा उसने कि काकाजी कब शादी कर रहे हैं मगर कभी इस बात का ज़वाब नहीं मिला. आज ज़वाब लेने ही तो आयी है! पर यहां चेहरे सच्चाई छुपाने में माहिर हैं.

नौकर ने जिस कमरे में सामान रखा था खूब सजा हुआ था. याद आया कि यह कमरा ही तो उसके पापा और मम्मी का था. खिड़की से लॉन की पूरी झांकी मिलती थी. बगल वाला कमरा उसका अपना था और तीसरा कमरा मेहमानों के लिए था. नीचे काकाजी का कमरा, उनके मुंशी और मुवक्किलों के लिए बैठक, दादी का कमरा, बड़ा-सा रीडिंग रूम और ड्राइंग रूम.

## विजय

अपने कमरे से बाहर आ वह दोनों कमरों के दरवाज़े धकेलती है. दोनों में डबल बेड लगे थे, पर खाली थे. नौकर पानी का जग लाया तो पूछा, "सब कहां हैं ? ...हाथ में तकिए पर बिछा लंबा बाल आ गया था. किसका होगा ?"

"नीचे हैं छोटी मेमसाब !" नौकर कह रहा था.

"नीचे ! फिर कोई आया क्यों नहीं ?" वह धड़धड़ाती हुई नीचे उतरती है और ड्राइंग रूम पार कर पहले कमरे की तरफ़ मुड़ती है. अंदर बल्ब जल रहा था जबकि कमरे में रोशनी भरी हुई थी. जमीन से दो बालिस्त ऊंचे चौड़े दीवान पर गठरी सी रखी लगी, पर गठरी हिल-डुल रही थी. जोधपुरी पतली रजाई सिर पर खींचे कोई बैठा था. सुजाता ने रजाई खींच दी तो चेहरा बाहर आया - "कौन है रे. रात मा भी चैन न !"

"रात कहां ? दिन का बारह बजा है दादी और मैं सुजाता हूं...सुजाता." सुजाता को दादी के कमरे में बसंती फूलों की गंध का अहसास हुआ.

दादी तकिए से खोज चश्मा आंख में चढ़ा लेती हैं. उनकी झुर्रियों के मध्य स्नेह और प्यार उभर उठता है. हाथ पकड़ लेती हैं, "अरे लाड़ो तू. तू आज कैसे आ गयी. सुजान कहे था, बंगाल में हिकमत पढ़ रही है. ...चल ठीक है. अब कोई जड़ी-बूटी निकाल मेरी आंख ठीक कर. जंफर का बटन टूट जाये तो नारंगी को तीन बार कहना पड़े."

दादी की गोद में बिछते हुए एक हाथ से कमर लपेट लेती है... "दादी तुम तो पहले से जवान हो गयीं. मैं लड़का होती तो."

"चल दईमारी. मुझे बनाये है. मुंह में दांत नहीं तो घोड़ी जवान नहीं. पर तू तो निगोड़ी कल आने वाली थी, आज कैसे टपक गयी. जाई लिए तो सुजान नहीं है."

"रिजर्वेशन एक दिन पहले का मिला फिर सोचा सरप्राइज दूंगी."

"दिखा कहां है तेरा सरफिराइज?"

"दादी सरफिराइज नहीं, सरप्राइज. मतलब सबको चौंका

दूंगी. और मैंने हिकमत नहीं, कलकत्ता से एम. डी. किया है. ...पूरी डॉक्टरी पढ़ी है."

"धत् ससुरी ! गाय भेड़ के खून से भरी रहें गोलियां ! मैं खाने से रही तेरी दवा."

"खाओगी कैसे नहीं. ज़बरदस्ती खिलाऊंगी. तुम्हें तो बकरे के खरोड़ों का जूस पिलाऊंगी. पर नयी मां कहां हैं ?"

"बहू. बेचारी खाट पकड़े है. इस बार तो बोत परेशान है." कहते हुए दादी आंख चुराने-सी लगीं. फिर सहज होकर बोलीं, "पहले चाय पी ले. ...पर सुन वो जूस मूस मत पिल्लईयो."

दादी ने बिस्तर में लगा स्विच दबाया तो सामने एक लड़की आ खड़ी हुई. सुजाता पहचानने की कोशिश करती है तो दादी कहती हैं, "सोमा है, नारंगी की लौंडिया ! तब छोटी थी जब तू गयी थी."

सोमा पूछती है, "हुकुम दादी मां."

"जा चाह और नास्ता ले आ," आवाज़ में रौब उतर आया था.

"सब तैयार है दादी जू. अम्मा ला रही हैं. तभी नारंगी ट्रे लिये कमरे में घुसती है. चालीस ब्यालीस की नारंगी में कोई खास फ़र्क नहीं पाया. ट्रे रखी तो सुजाता लिपट गयी. सहम सी गयी नारंगी. सुजाता को याद आया...नौकरों को मुंह लगाने की प्रथा नहीं रही है इस घर में. पर वह तो इस छत से नहीं, छत के नीचे के दर्शन से भी बहुत दूर जा चुकी है."

नारंगी खुश हुई थी, "सुजाता बेबी. इत्ते दिनों बाद आयीं. कभी हम लोग याद नहीं आये ?"

"पढ़ रही थी नारंगी. यहां रहती तो क्या पढ़ पाती ? अभी तक दो बच्चों की मां बन गयी होती," कहकर हंसती है सुजाता. पर मुस्कुरा के सिर झुका लेती है नारंगी. बीस साल से इस घर की सेवा में हैं. नौकर नौकरानियों का हंसना-बोलना यहां ठीक नहीं समझा जाता है.

नाश्ता करती सुजाता से पूछती है नारंगी, "खाने में क्या बनाऊं बेबी ?"

"उर्द की खड़ी दाल, बैंगन का भुर्ता, आलू फ्राई, रोटी और चावल."

"बड़ी डॉक्टरनी बन गयी पर पसंद पुरानी है. खुद खरोड़े का जूस न पिये." दादी चिहुंकती हैं.

"वो मरीजों के लिए. रही मेरे खाने की बात, पेट नहीं बदला है तो खाना कैसे बदलेगा." खिलखिला कर हंसती है सुजाता. नारंगी, दादी और सोमा अचंभे से देखती हैं. ...वहां रहकर कितना बदल गयी है सुजाता.

"नयी मां कहां है ?" सुजाता बेफ्रिकी से पूछती है.

"अभैन आंख लगी है. रात भर सोई नहीं रानी जू."

विजय

*जन्म एवं शिक्षा आगरा में*

***लेखन*** : *पिछले लगभग दो दशकों से निरंतर साहित्य सृजन. सात कहानी संग्रह और तीन उपन्यास प्रकाशित. अनेक देशी-विदेशी भाषाओं में कहानियों का अनुवाद*

***संप्रति*** : *स्वतंत्र लेखन.*

***('कथाबिंब' के हितैषी एवं नियमित कहानीकार)***

---

"ठीक है, मैं जाकर देखती हूं कुछ देर में."

नारंगी परेशान हो उठती है. यह क्या हो रहा है ? सात साल में क्या सब कुछ भूल गयीं ! कहीं जानबूझ कर चिढ़ा तो नहीं रही हैं ? फिर सोमा को आगे कर बोली,"ये आपकी टहल करेगी बेबी."

"क्यों ? क्या मैं अपाहिज हूं. इसे खेलने कूदने दो."

दादी सिर झुका लेती हैं और नारंगी दांतों के बीच जीभ दबा देती है. सुजाता पूरी बाहों का स्वेटर पांयते फेंक दादी को खींच खुद लेट जाती है. दादी को अच्छा लगता है. सुजाता को भी लगता है कि थकान मिट गयी है.

सुजाता पूछती है, "दादी पुरानी बातें बताओ सिसोदियों की ! हमारे पड़बाबा रियासत के मंत्री थे न...खूब फूली हुई गब्बर मूछें, कमर में तलवार, चमकती, छींटिया पगड़ी, चूड़ीदार पाजामा और..."

दादी गाल थपथपाती है, "कुछ भूली नहीं. क्यों पूछती है ?"

"दादा जी तो फौज में थे. कप्तान थे न ? वर्मा की लड़ाई में जौहर दिखाये थे. तुम तो दादी औरों की बात बताओ... चर्खे पर सूत कातती थीं न और बरजोर घोड़े पर सवारी करती थीं..."

"झूठी! मुझे बनाये. मैं न चढ़ी कभी घोड़ा."

दादी की गुलगुल देह के साथ लिपटे रहना बड़ा सुखद लगता है. सुजाता को दादी की पुरानी बातें याद आती हैं. वीर परिवार है हमारा... पांच जौहर हुए हमारे ख़ानदान में. मेरी बुआ सास

का विवाह तै हुआ राजा भूपेंदर के यहां. पर राजा घोड़े से गिरकर ऐन शादी के एक दिन पहले मर गया. बुआ सास कुंवारी थीं. घुड़सवार दौड़े, चिता से लकड़ी निकाल लौटे. बुआ सास की चिता बनी. उसी जलती लकड़ी से जली चिता और बुआ सत्रह की उम्र में सती हो गयीं. मेरी मौसेरी बहन की सगाई हुई थी राज परिवार में. तीसरी शादी थी राजा वीरेंद्र सिंह की. बहुत कहा रो-रोकर बाप से पर वचन तो वचन ! रात में छत की कड़ी से लटक गयीं.

दादी यहीं रुक जाती थीं और सुजाता कुरेदती थी, "तुम्हारे भी तो दादी..."

"दादी. तुमने कैसे सहा ?"

"क्या करती. हरीरे में अफीम मिली थी. मेरी आंख लग गयी. पांच घंटे बाद खुली. लौंडिया गायब थी. पूछा तो बताया मर गयी थी. बाप बाबा दबाने ले गये हैं. तब नारंगी की सास काम करती थी."

सांस खींचती है दादी, "एक दिन छुरी लेकर उसकी छाती पर चढ़ बैठी थी... बता क्या हुआ. तब पता चला - पाये से दबवाया था दाई से. कीं...कीं आवाज करी थी नन्हीं जान ने. नारंगी की सास मलोदा बताये थी... बड़ी खूबसूरत थी लौंडिया."

"तुमने दादाजी से लड़ाई नहीं की."

"लड़ाई. बोलते ही हंटरों से उधेड़ दिया था...साली औरत. मर्द से सवाल पूछती है."

"फिर."

"फिर क्या धींगड़ी. राजपूत अइय्याशी में ज़मीन बेचते रहे. सूदर और गैरजात खरीदते रहे. कभी नरपत गढ़ जइयो. मेहनत मजदूरी से कैसे फल-फूल रहे हैं वे. राजपूतों की इयोढ़ी पर मक्खी भिनके. सूखे हलक, पर मूछों पर मलाई और ऐंठ आज भी. तेरे बाप ने फौज में अफ़सर बनते ही गांव छोड़ दिया. यहां कोठी बनवा ली. सुजान ने भी अल अल बी की, और जजों की फटकारने लगा."

सुनकर हंसते-हंसते सुजाता गहरी सांस लेती है. याद आता है... मां खूब चटख रंगीन कपड़े पहनतीं. काका पापा से बारह साल छोटे थे. उन्हें बच्चों की तरह खिलातीं. पर पापा की कोई और भी थी. कौन थी ? दादी से कई बार पूछा तो झल्ला जातीं... नाम न पूछ कमीनी कुतिया का. रंडी तो कोठे पे बैठे, वो रांड तो घर में यार पालै थी. पर कमी तेरी मां में भी थी. एक लौंड़ा न जना मरे तक.

मां चटख कपड़ों और गहनों से लदी रहतीं, पर मुस्करा नहीं पाती थीं. जब तब उसके बाल सहला सीने से लगा लेतीं. लड़कियों के स्कूल से मैट्रिक किया तो पिता छुट्टी ले आये थे - "बस हो गयी पढ़ाई. अब शानदार शादी करेंगे. राजपूताना राइफल्स के कर्नल धीरज सिंह का लड़का है. इंग्लैंड में रहकर पढ़ता है."

"न ! सुजाता पढ़ेगी. मां ने दृढ़ता से कहा था."

"क्या ?" तड़के थे पापा.

नागिन बन गयी थी मां, "सिसोदिया खानदान को अपनी लड़कियों पर विश्वास क्यों नहीं है."

"विश्वास ! पूरा है पर जमाना."

"जमाना ! जमाना ठीक बढ़ रहा है. पीछे रह गये हैं हम."

मां अकड़ गयी थी. उस रात हंटरों से बहुत मारा था उन्हें. सुबह सूजे गाल और तड़कती हड्डियों के बीच कराहते हुए कहा था, "तू पढ़ना ! मैं जान दे दूंगी पर तेरी पढ़ाई नहीं रुकने दूंगी."

दादी भी मां के पक्ष में थीं. पापा गुस्से से अपनी उसके यहां चले गये थे. दो-तीन रातों में जाने क्या घटा कि मां की हृदयगति ही रुक गयी. पापा को काका जी वापस लाये थे. जड़ बना रहा था उनका चेहरा. पहली बार उसमें भी अपने बाप के प्रति नफ़रत जागी थी.

डेढ़ महीने में ही पापा की प्रेमिका गायब हो गयी माल दबाकर. गांव जमीन बेचने गये थे काकाजी और पापा चार-पांच महीने बाद. काकाजी ने वकालत शुरू की ही थी... लौटे तो साथ में नयी मां थीं.

गहरी हो गयी थी बाप के प्रति सुज़ाता की नफ़रत. नयी मां उसे अच्छी लगीं पर काकाजी पहले की तरह नहीं चहकते. पापा जल्द अपनी महानता दादी के सामने बखान गये. ...कौड़ी-कौड़ी को मोहताज था इत्ते नामी राजपूतों का घर ! मां और बेटी. मैंने सोचा उद्धार होगा उनका और सुजाता की देखभाल भी हो जायेगी.

नयी मां से उसकी पट गयी थी. वो ज़बरदस्ती नयी मां को अपने कमरे में सुलाती, पर रात कई बार आंख खुलने पर उन्हें बिस्तर पर नहीं पाती. पूछने पर कहतीं...जी घबरा रहा था. ऊपर चली गयी. पापा छुट्टी पर आते तब वे उतनी खुश नज़र नहीं आती थीं.

दादी अपने में बड़बड़ातीं... अर्जुन क्या अंधा था ? औरत न हुई डिब्बे का गोश्त हो गयी... जब चाहा निकाल पका लिया. वह काका जी से कहती, अब आप काकी ले आओ.

संजीदा मुस्कुराहट के साथ कहते, तेरा ब्याह करूंगा पहले. एक दिन बुरी ख़बर आ गयी... पापा नहीं रहे का दुख नयी मां के बदन पर आये श्वेत कपड़ों से ढक गया. मन ही मन सोचती... नयी मां पापा से कम से कम पंद्रह साल तो छोटी हैं. मुझसे यही कोई पांच वर्ष बड़ी होंगी. कैसे कटेगी ज़िंदगी ?

काका नयी मां को सफेद कपड़ों में देख सिर झुका लेते. तभी मामा आ गये, सुजाता को ले जाऊंगा. दीदी ने मरने से पहले ख़त में भी यही लिखा है...उसे पढ़ाना, तुम डॉक्टर बनाना.

जिनसे सहज ही कटु प्रतिशोध की संभावना थी वे पुष्टि कर गयीं. दादी ने पीठ सहलाते हुए कहा, ले जा इसे. सुजान को अदालत से फ़ुर्सत नहीं. बहू दुख में डूबी और मैं बूढ़ी. वहां इसे सही वातावरण मिलेगा पर हम हर महीने रोकड़ भेजेंगे, मना मत करना. ये ख़ानदान अहसान नहीं लेता है.

जमशेदपुर पहुंच कर भी सुजाता इस घर को नहीं भूल पायी...इम्तहान का नतीजा आया और वह डॉक्टरी की परीक्षा में भी आ गयी. पढ़ाई के दौरान मन और तन के रिश्ते खुलने लगे. बिना बताये समझ गयी... काका का विवाह न करना, पिता की अनुपस्थिति में बगल में लेटी नयी मां का गायब हो जाना और दादी की बड़बड़ाहट.... 'अर्जुन क्या अंधा था?' याद आता ख़ानदानी इतिहास... सती, आत्महत्या और पैदा होते ही लड़कियों की हत्या. विगत सौ वर्षों के अंतराल में बरती निर्दयता आज पाप की शरण ले चुकी है.

सुजाता दादी के कमरे से निकल नयी मां के कमरे में दबे पांव पहुंच जाती है...चुसे हुए गालों का बसंती रंग फीका हो रहा था. सोचती है क्या उम्र होगी नयी मां की. ...यही तैंतीस चौंतीस.

पाटी पर बैठी तो जाग गयी नयी मां. हाथ बढ़ा सीने में समेट लिया. हाथ चूमें तो बिस्तर पर आलथी-पालथी बैठ गौर से देखा. ..भयानक सन्नाटा था चेहरे पर तूफ़ान के बाद का.

नयी मां आंख नहीं मिला सकीं. सुजाता के अभ्यस्त हाथ नाभि के नीचे तक पेट दबाते रहे और स्वर कड़ा हो गया, "पहली बार ऐसा नहीं हुआ ऐसा लगता है."

नयी मां आंखें झपका लेती हैं. व्यंग्य से तिरछे हो जाते हैं सुजाता के होंठ, "धन्य हैं राजपूती लोग."

"सुजाता, तेरे काका अपने लिए तेरे पापा को दिखाने ले गये थे. ज़मीन का तो बहाना था. तुम्हारे पापा ने कहा भी था, ...अपने ख़ानदान की बनाना चाहते हैं. मैं और मां कुछ और ही समझे, पर रात जब मंडप में बैठे तो मां चौंकी थीं. मुझे कार में वापसी पर पता चला."

"शाबास नयी मां. अनचाहे पुरुष के साथ बलात्कार तो सहती ही रहीं और विगत सात साल में अपनी चाहत के पुरुष के प्रणय को भी दूषित बनाये रहीं. एक के बाद एक एबॉर्शन ...छीं."

दो आंसू थे ज़वाब. अपने सीने में ही अपनी नज़र को शरण दे सकीं नयी मां.

इसीलिए दादी मां ने मुझे जाने दिया कि बात खुल न जाये. मैं तो दादी को सीधी समझती थी.

नारंगी को बुला सामान के साथ रखा अपना डॉक्टरी बैग मंगवा लिया सुजाता ने. काफी देर जांच की.

बाहर ड्राइंग रूम में रखे फोन की बगल में पड़ी डायरेक्ट्री उठा, डॉ. मीनाक्षी अरोरा को फोन कर बुला लिया. एक घंटे में परीक्षण पूरा कर एम्बुलैन्स बुला ली डॉ. अरोरा ने. रक्त जैसे-जैसे अंदर जाता रहा. ...नयी मां के चेहरे पर वैसे-वैसे ही अरुणिमा उतरने लगी.

शाम काकाजी भी नर्सिंग होम पहुंच गये, "एक दिन पहले आ गयी तू."

"मैं तो एक दिन पहले आ गयी काकाजी पर आप जो लगातार लेट हो रहे हो सो !"

"लेट ! कैसा लेट !"

"मैं बच्ची नहीं हूं काकाजी. औरत भी हूं और डॉक्टर भी. ख़ानदान की इज्जत के नाम पर अंधे कुएं की नर्क यात्रा को भी समझ गयी हूं. झूठे गिलट पर चांदी की पॉलिश सी ख़ानदान की नाक का गम आपको है पर ख़ानदान ख़त्म हो जाने का भी दर्द नहीं उठता है. कपटी ब्राह्मण आपके बल के संचालक थे तो उनके फेनेटिज़्म के आप भी दास थे."

"क्या कह रही है तू !" भड़के थे सुजान.

"जो कहूं आप करते जायें. नहीं माने तो नाक के साथ वकालत का चोगा भी जायेगा." शर्म से सिर झुका लिया सुजान ने. लगा दुश्मन हो गयी है, भतीजी. सुजाता को लगा कि इतनी गहरी शर्म की ज़गह काश हिम्मत होती काका में.

## ग़ज़लें

✍ अवंतश रजनीश

अब कत्ल करके जश्न मनाने लगे हैं लोग,
बस्ती जला के राख बुझाने लगे हैं लोग.
आंखों में मुफ़लिसी लिये यह शहर सो गया,
पर बेशुमार ख्वाब सजाने लगे हैं लोग.
खाने को कुछ नहीं है मगर हौसले तो हैं,
किस्से में रोटियों को सुनाने लगे हैं लोग.
शिद्दत की प्यास और था दरिया भी सामने,
आंखों में डूब कर के नहाने लगे हैं लोग.
जुल्मों, सितम, दरिंदगी अब रस्म बन गयी,
मासूम दुल्हनों को जलाने लगे हैं लोग.
आवाज़ दे रहा है शहीदों का खून अब,
मेरे वतन पे आंख उठाने लगे हैं लोग.
इस शहर की रवायतें कितनी अजीब हैं,
सूरज को भी चिराग़ दिखाने लगे हैं लोग.
कितना है बदनसीब वतन किससे क्या कहें,
हिंदी को तरजुमा से पढ़ाने लगे हैं लोग.

ज़िंदगी में दर्द जब गहरा हुआ,
यूं लगा मौसम कहीं ठहरा हुआ.
रोज़ मरता और मैं जीता रहा,
लाश पर अब गिद्ध का पहरा हुआ.
अब कोई उम्मीद भी बाकी नहीं,
है अंधेरा हर तरफ पसरा हुआ.
अपना ग़म दर्दे-ज़िगर किससे कहें,
आजकल का आदमी बहरा हुआ.
मुल्क की हालत बयां कैसे करूं,
कल चमन था आज है सहरा हुआ.
जो चले थे साथ बन के मीरे कारवां,
अब उन्हीं से देश को ख़तरा हुआ.

प्रधान संपादक चर्चित-अचर्चित
प्रकाश नगर, रायबरेली २२९००१ (उ. प्र.)

ज़बरदस्ती विवाह की दरख़ास्त पर दस्तख़त करा अदालत में दे आयी सुजाता. पूरे एक महीने बाद की तारीख़ मिली. पंद्रह दिन बचे थे महीना पूरा होने में कि काका जी अदृश्य ही गये. घर में उठी खुशी की लहर शोक में बदल गयी. दादी बहुत ख़फा थीं, "बड़ी क्रांति करा रही थी लौंडिया. घर उजाड़ दिया."

बरस पड़ी थी सुजाता. "जब औरतें सती हुईं तो घर नहीं उजडा, पाप का भय जो मिटा. पाप का भय तो अब मिटा है, फिर शोक क्यों ?"

"भाड़ में जा तू!" दादी बिस्तर में दुबक गयी थीं. शिकायत नयी मां की आंखों में भी थी... छुप छुपाकर पीड़ा के बीच जीवन भी था कहीं. तुमने वह भी मिटा दिया सुजाता."

सुजाता अवसाद के मध्य सोच में डूब जाती... कहां क्या गलत हुआ ? क्या सत्य का अर्थ शर्मनाक हो गया है कि नारी विगलित और पुरुष मात्र अंधेरे का सौदागर बन गया है... धर्म का अर्थ अनर्थ की आड़ हो गया है.

फिर इसे लगा कि वारियर कौम को ब्राह्मणों ने पहले मंत्री और पुरोहित बनकर एक होने की ज़गह लड़ाकर अपना उल्लू सीधा किया. हिंदुस्तान को गुलाम बनवा दिया. वहीं संस्कार के नाम पर उन्हें दंभी, लोभी और झूठा बनाया. बाहर की दुनिया पर घमंड की तेग नहीं चली तो औरत को कमजोर मान उस पर ही प्रताड़ने का अधिकार बना लिया. फिर भी आज तक जहां अतीत में आत्महत्या, सती या निष्कासिता सिर्फ नारी ही हुई है, इस बार रण छोड़कर पुरुष भागा है. ...वह पुरुष जो कभी पीठ नहीं दिखाता है.

वापस लौटने की ज़गह सुजाता ने अपनी डिस्पेन्सरी वहीं खोलने का निर्णय लिया. फूटी थीं दादी, "जो मन करे कर, घर फोड़नी." नयी मां खामोश थीं. ...मानों निर्लिप्त हों.

सुजाता मन ही मन सोचती है, देखें कब तक नहीं लौटता है रण-बांकुरा. तलवार छोड़, शोषित से भी तगडी फीस वसूल करने वाला रणछोड़ सिंह कितने दिन भटकेगा. सड़क पर अनजान और आम आदमी बनके क्या जी सकेगा. बाहर औरत पाने के लिए भी दाम चाहिए.

दुख इस बात का था सुजाता को कि दादी और नयी मां से वह अपनी सोच को बांट नहीं सकती थी... शेयर नहीं कर सकती थी.

११५ बी, पॉकिट जे एंड के,
दिलशाद गार्डन, दिल्ली ११००९५

कहानी

# अंजुम तुम लौट आओ !

अपने शौहर अब्दुल के द्वारा धक्के मार कर निकाल दिये जाने के बाद जब रोती-कलपती फातिमा अपने दोनों मासूम बच्चों एवं टूटे-फूटे टीन के बक्से के साथ आधी रात गये अपने अब्बू के घर पहुंची, तो असलम मियां अपनी रतौंधी भरी आंखों से एकबारगी उसे पहचान नहीं पाये. अपनी आंखों की ऐनक दुरुस्त करने के बाद उन्होंने लालटेन जलायी और कांपती हुई आवाज़ में पूछा, "क..कौन...?"

"अब्बू...मैं फातिमा..." फातिमा ने अपनी रुलाई रोकने के क्रम में जैसे-तैसे खींच कर हलक से आवाज़ निकाली और अगले ही पल फूट-फूट कर रो पड़ी.

"क...क्या हुआ बेटी... ? तू रो क्यों रही है...? अ...और तेरा शौहर वह कहां है...? तू अकेली इतनी रात गये, सब ठीक तो है न...?" असलम मियां के सवाल जज़बात से बिलबिलाकर तूफ़ानी नदी की भांति उमड़ते ही रहते अगर फातिमा ने सुबकते हुए यह नहीं कहा होता, "अब्बा अभी कुछ मत पूछो..म..मैं आपको सब बता दूंगी. फिलहाल इतना ही समझो कि तुम्हारी बेटी अब हमेशा के लिए तुम्हारे पास आ गयी है... हमेशा के लिए..."

असलम मियां, बेटी की स्थिति को देखकर चिंता में पड़ गये परंतु बोले कुछ नहीं. बस दरवाज़े से परे होकर इशारा किया - फातिमा को अंदर आने के लिए. अंदर आते ही फातिमा पस्त-सी दीवार से लगकर बैठ गयी. दोनों बच्चे भी सहमे हुए अपनी अम्मी के पहलू में सरक लिये. असलम मियां ने गौर किया, आठ-दस सालों में ही फातिमा का रंग-रोगन किसी पुरानी हवेली-सा झड़ गया है. चेहरा रूखा और संतरे की फांक सा निचुड़ा हुआ, आंखें गड्ढों में अंदर की ओर धंसी हुई, और गदबदा बदन सूखे पेड़ की तरह ऐंठ हुआ लगा उन्हें. असलम मियां की आंखें भर आयीं, बेटी की इस दुर्दशा पर ! कितना फ़रक आ गया है इन दस सालों में - कहां...फूल-सी खिली फातिमा जिसकी वह दिन में न जाने कितनी बार बलैयां उतारते फिरते और अब कहां नींबू-सी निचुड़ आयी यह फातिमा जिसको देखकर उनका कलेजा छलनी हुआ जा रहा है. आख़िर ऐसा कौन-सा क़हर बरपा कि फातिमा की यह हालत हो गयी...?

अब्दुल तो अच्छा लड़का था. घर में भी किसी बात की कोई कमी नहीं थी. और उसकी ख़ालाजान, माशा अल्लाह ! क्या खुशमिज़ाज ख़ातून थी ! बात-बात पर ठहाके मारकर हंसती और एक-एक मिनट पर पान की गिलौरी बनाकर कल्ले में दाब देती थी. असलम मियां ने खुद जाकर सारी बातों की तहक़ीक़ात की थी. उनकी मेहमाननवाज़ी की चर्चा तो असलम मियां ने खुद पूरे मोहल्ले में क़सीदे गढ़-गढ़ कर सुनाये थे. कई बार अख़्तर हुसैन का भी शुक्रिया अदा किया था, जिसने यह रिश्ता करवाया था.

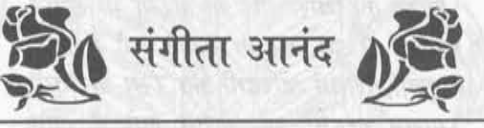


फातिमा का निकाह तय होते ही असलम मियां के चेहरे पर जवानी सी रौनक़ लौट आयी थी. एक महीने पहले ही उनकी ख़ालाज़ाद बहन हाजरा भी आ गयी थी, अपनी देख-रेख में निकाह की मुक़म्मल तैयारी करवाने के लिये. सब कुछ बड़े सलीके और क़ायदे से हो रहा था. असलम मियां पूरी मुस्तैदी से फातिमा का जहेज़ जुटाने में लगे हुए थे. हाजरा भी रोज एक लंबा-सा पर्चा उन्हें थमा देती. कपड़े-लत्ते, गहने-ज़ेवर किसी बात में कोई कमी नहीं थी. निकाह का लाल जोड़ा बनकर आया तो असलम मियां का दिल मचल उठा था, अपनी लख्ते-जिगर को उस जोड़े में देखने के लिये. निकाह में अभी दस दिन बाकी थे परंतु असलम मियां के बेक़रार दिल ने कहा कि एक बार फातिमा उस जोड़े को पहन ले तो वे उसकी बलैयां उतार लें ! पता नहीं निकाह वाले दिन फ़ुरसत मिले या नहीं ! असलम मियां ने जब फातिमा को जोड़ा पहनने के लिए कहा तो फातिमा ने मुंह फुलाते हुए कहा था, "अब्बू...हमें अभी निकाह नहीं करना है..."

"क्यों नहीं करना निकाह...?" असलम मियां ने लाड़ दिखाया.

"मुझे अभी पढ़ना है..."

"पढ़कर क्या करोगी... ?"

"मास्टरनी बनूंगी, जैसे लाल हवेली वाली बाज़ी हैं..."

"अच्छा, मास्टरनी बनकर क्या करोगी...?"

"बच्चों को पढ़ाऊंगी..."

"अपने बच्चों को...?"

"अब्बू...जाओ मैं आपसे बात नहीं करती..."

"ठीक है...बात मत करना बाबा...परंतु अभी तो इसे पहन कर दिखा दे...देखूं तो मेरी चश्मेनूर इस जोड़े में कैसी लगती है...?"

विदाई के वक़्त फातिमा असलम मियां के कलेजे से लगकर खूब रोयी थी. असलम मियां भी बेटी की जुदाई को सहन नहीं कर पाये थे... बच्चों की तरह बिलख पड़े थे. हाजरा बेगम ने उसके आंचल में गुड़ चावल डालकर उसे कुरान के साये से निकालते हुए कहा था, "बेटी, तेरे अब्बू ने तुम्हारी अम्मी के इंतकाल के बाद तुम्हें दोनों का प्यार दिया...कभी तुम्हारी तरबियत में किसी बात की कोई कमी नहीं होने दी. तुम्हें अच्छी और नेक तलक़ीन दी. अब उसी तलक़ीन का वास्ता देकर कहती हूं...कभी हमें शिकायत सुनने का मौका नहीं देना. आज के बाद तेरा असली घर शौहर का ही घर है ! अब उस घर से तेरा जनाज़ा ही निकलेगा..." हाजरा बेगम की आंखों से भी आंसू टपक पड़े.

फातिमा के जाते ही असलम मियां को घर काटने को दौड़ने लगा. हर वक़्त ऐसा लगता कि फातिमा नन्ही हिरणी-सी कुलांच भर रही है और वे उसे पकड़ने जाते हैं तो गायब हो जाती है. वह पांच साल की थी, तभी उसकी अम्मी का इंतकाल हो गया था. तबसे लेकर आज तक वह साये की तरह उनके साथ लगी रहती थी. अब उसके बिना एक पल भी दिल नहीं लगता. हाथ का कौर हाथ से छूट जाता है... तो आंखों की नींद न जाने कहां गायब हो जाती है ! हाजरा बेगम के जाने के बाद तो और भी सन्नाटा घिर आया. अख़्तर हुसैन ने हज़ करने की तजवीज़ दी तो असलम मियां को बात जंच गयी और वे हज़ करने चले गये. रास्ते में लौटते वक़्त उनकी बस उलट गयी थी. खुदा का रहमोकरम कि वे बच गये, पर महीनों उठने के क़ाबिल नहीं रहे. अस्पताल से छुट्टी मिलने पर लौटे तो फातिमा उन्हें देखने आयी थी अपने शौहर के साथ. पता नहीं क्यों असलम मियां को फातिमा बुझी-बुझी और परेशान नज़र आयी. पूछने पर फातिमा ने असलम मियां के मन का भ्रम कहकर बात टाल दी थी. उसके बाद भी फातिमा कभी-कभार आती रही थी, लेकिन कभी असलम मियां को एहसास तक नहीं हुआ कि उसके साथ कहीं कोई और बात भी है...

"अम्मी भूख लगी है..." अंजुम ने जब कहा था तब फातिमा ने सर उठाया था...और अपनी ओर एकटक ताकते हुए अब्बू को देखकर मन-ही-मन कहा, "क्या देख रहे हो अब्बू...? बेटी लाश बनकर लौटी है ! फूफीजान ने ही कहा था कि शौहर के घर से उसका जनाज़ा ही उठता है ! जनाज़ा तो उठा अब्बू. ...पर कफ़न नसीब नहीं हुआ. अब कफ़न की तलाश में ही यहां आयी हूं..."

"अम्मी भूख लगी है..." अंजुम ने दोबारा कहा तो फातिमा उठ खड़ी हुई और अब्बू की ओर मुख़ातिब होते हुए बोली, "अब्बू घर में कुछ है...? यास्मिन और अंजुम ने सुबह से कुछ नहीं खाया है..."

"बना हुआ तो कुछ भी नहीं है...परंतु मैं फ़िलफ़ौर लुकमें और चाय बना देता हूं..." असलम मियां ने उठने की कोशिश

**१९७१, सीतामढ़ी (बिहार) के छोटे से गांव सुरसंड में,**
**एम. ए. (हिंदी)**

**लेखन** : विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में अनेक कहानियां, लेख आदि प्रकाशित.

**संपादन** : कहानी संग्रह 'ना मेरा राम ना तेरा ख़ुदा' शीघ्र प्रकाश्य.

**संप्रति** : त्रैमासिक पत्रिका 'संदर्भ' का संपादन.


की तो घुटनों में अनायास उतर आये दर्द से बिलबिला कर बैठ गये.

"तुम बैठे अब्बू...मैं खुद बना लूंगी..." कहती हुई फातिमा बावर्चीख़ाने की ओर बढ़ गयी.

बच्चों को खाना खिलाने एवं सुलाने तक रात के दो बज गये. असलम मियां ने तब तक अपना बिस्तरा नीचे जमीन में डाल लिया था. फातिमा जब जूठे बरतन समेटने लगी तो असलम मियां ने कहा, "बेटी, तूने भी तो कुछ नहीं खाया होगा...तू भी कुछ खा ले."

फातिमा ने जैसे ही कौर तोड़कर मुंह में डाला, जी मिचला उठा. एक उबकाई-सी आयी और कौर फिर थाली में आ गिरा...जैसे वह फिर अब्बा के बूढ़े और कमज़ोर कंधों पर आ गिरी है ! उसने तो सोचा भी नहीं था कि कभी यह वक़्त भी आयेगा कि अब्दुल सात-आठ सालों के संबंधों को यूं गारत कर उसे ठोकर मार देगा. --हां...अब्दुल ने उसे ठोकर ही तो मारी...कहा, "आज के बाद तेरा और मेरा रिश्ता हमेशा के लिए ख़तम ! अब भूलकर भी अपने पिल्लों के साथ इधर का रुख मत करना...नहीं तो मुझसे बुरा कोई नहीं होगा." उसके बाद गहनों से लदी-फदी सौत ने कुटीली मुस्कान के साथ उसके मुंह पर दरवाज़ा बंद कर लिया था. फातिमा न जाने कितनी देर तक दरवाज़े पर पड़ी बिलखती रही थी. बच्चे अब्बू-अब्बू कहकर दरवाज़ा पीटते रहे थे परंतु दरवाज़ा खुलने के लिए तो बंद हुआ नहीं था. हारकर फातिमा उठी और सौत के द्वारा फेंके हुए बक्से को उठाकर चल पड़ी थी

स्टेशन की ओर. आगे-आगे लुटी-पिटी सी वह और पीछे-पीछे दोनों मासूम बच्चे ! रास्ते में कई बार दिल में आया कि किसी नदी-नाले में कूद कर जान दे दे, किंतु बच्चों के ख़्याल ने रोक लिया उसे. वह गाड़ी में बैठी तो यूं लगा कि जान ही नहीं रही शरीर में. खिड़की से सर लगते ही तरह-तरह के ख़्याल मन में फुदकने लगे. मेरी यह हालत देखकर अब्बू पर क्या गुज़रेगी ? इतने सालों तक अपने ग़मों की भनक तक नहीं लगने दी. परंतु आज क्या झूठ बोल पाऊंगी कि मैं खुश हूं ! मेरा शौहर मेरा बहुत ख़्याल रखता है ! मुझे कभी किसी चीज़ की कमी वह नहीं होने देता. सच है सच्चाई ज़्यादा दिन ताले में नहीं रहती ! आज मेरे भी झूठे सुख की सच्चाई ज़रूर बाहर आ जायेगी. अब्बा सब जान जायेंगे कि अब्दुल...मेरा शौहर कितना कमअसल और मक्कार इनसान है ! उसने किस तरह झूठे सब्ज़बाग दिखाकर उन्हें ठगा है...

फातिमा जैसे-जैसे सोचती जा रही थी उसके मन में अब्दुल के प्रति रोष उमड़ रहा था. दिल चाह रहा था कि अभी जाकर इतने सालों का हिसाब मांगे उससे. आज तक सिर्फ़ अपने अब्बू के चलते वह उसके सारे जुल्मों को सहती रही थी. परंतु आज जब अब्बू के सीने में उसके गम बरछी बनकर चुभते ही हैं...तो उसे वह क्यूं छोड़े...? क्यूं उसके किये हुए गुनाहों को नज़र-अंदाज़ करे वह ...? उसे सजा मिलनी ही चाहिए ! पर कैसे ...?

हवा के तेज झोंके के साथ फातिमा का रोष भी उड़ने लगा. उसकी ज़गह गम आंखों के रास्ते बाहर आने लगा. याद आने लगा दस साल पहले का वह सफ़र जब वह इसी तरह अब्बा की जुदाई के गम में रोती-सुबकती हुई बैठी थी. अब्दुल ने उसके आंसुओं से ऊबकर कहा था, "अब बस भी करो...तबसे रोये जा रही रही हो ! तुम ससुराल जा रही हो, कोई जहन्नुम नहीं..."

पहली नज़र में उसे अपना ससुराल जहन्नुम ही लगा था. टूटा-फूटा विना रंग-रोगन का घर ! वहां बकौल अब्बू के न कोई कोठी ही नज़र आ रही थी...ना ही बात-बेबात पर हो-हो हंसने वाली ख़ालाजान ही ! और-तो-और उसे नयी दुल्हन के आमद पर होने वाला कोई जश्न भी नज़र नहीं आया. चारों ओर छायी थी अजीब-सी मनहूसियत ! उसने जब घर में प्रवेश किया तो वहां का नज़ारा कुछ ऐसा लगा कि जैसे बरसों से उस घर में किसी परिंदे ने भी पर नहीं मारा हो. चारों ओर कूड़े-कचरे, और दिवारों पर अपना एक छत्र राज जमाये हुए मकड़े...! फातिमा ने बुरके की ओट से ही देखा, अब्दुल ने अपनी शेरवानी और अचकन उतार फेंकी थी और उसकी ज़गह एक छींट वाली कमीज़ और गाढ़े रंग की पुरानी-सी तहमत पहन ली थी. उसने फातिमा को आवाज़ लगायी, "शाम को मेरे दोस्त आयेंगे. ज़रा घर को साफ-सुथरा कर देना. और हो सके तो कुछ नमकीन भी बना लेना. और सुनो, अपना यह काला बुरका उतार कर अच्छी-सी साड़ी पहन लेना..."

अब्दुल चला गया और फातिमा को छोड़ गया कुछ अनसुलझे सवालों के बीच. वह समझ नहीं पा रही थी कि माज़रा क्या है...? अब्बू ने जो कोठी और अब्दुल की खाला देखी थी...वह कहां है... ? कहीं उसके शौहर ने झूठ तो नहीं कहा था...? फातिमा के जितनी तेजी से हाथ चल रहे थे उतनी ही तेजी से उसका दिमाग भी चला जा रहा था. देखते-देखते घर तो साफ़ हो गया, परंतु दिमाग में सवालों का जाला इस क़दर उलझा कि लाख कोशिश करने पर भी वह साफ़ नहीं हुआ.

अब्दुल करीब चार बजे आया था. उस वक़्त फातिमा बावर्चीख़ाने में सुहालियां बना रही थी. अब्दुल ने आते ही कहा था, "ज़रा जल्दी करो...फातिमा, मेरे दोस्त आते ही होंगे..."

पांच बजते-बजते अब्दुल का घर ठहाकों से भर गया. फातिमा ने घूंघट की ओट से देखा, सारे दोस्त उसे मनचले और सिरफिरे से लगे. एक से एक अश्लील बातें...और फिर उस पर ठहाके ! लग रहा था वह किन्हीं गंदे और आवारा लोगों के बीच खड़ी हुई है. थोड़ी देर बाद ही शराब की बोतलें खुलने लगीं. दो-चार घूंट लेने के बाद ही उसमें से एक ने कहा था, "अमा यार ! अब और कितना इंतज़ार करवाओगे...बुलाओ अपनी बेगम को...हम भी तो देखें कैसी चिड़िया मारी है तुमने ..."

"फातिमा..." अब्दुल ने पुकारा तो धक्क से रह गया फातिमा का कलेजा ! दिल में आया कि वह वहां न जाये. परंतु अब्दुल ने जब दोबारा पुकारा तो उसे जाना पड़ा. अभी वह दीवानख़ाने में घुसी ही थी कि उसमें से एक ने तेजी से उसका घूंघट पलट दिया और बड़ी बेशरमी से कहा, "माशा अल्लाह ! क्या हुस्न है ! अमा यार, हमने तो सोचा था यह अब्दुल्ला, हमारी कोठी और ख़ाला को उधार ले, किसी साधारण-सी मछली को फांसेगा ! परंतु इसने तो जलपरी को ही फांस लिया. सच कहूं हमारी तो नीयत ख़राब हो रही है !..."

फातिमा को लगा जैसे वह सीधे आसमान से नीचे आ गिरी हो. वह पसीने-पसीने हो गयी. उसका बदन थरथरा उठा और आंखें बंद हो गयीं. उसने मन-ही-मन बुदबदाते हुए कहा था, "या अल्लाह ! रहम कर !" रहम की ख़्वाहिशमंद आंखें भर आयी थीं...और उसके अतल अंधेरे से बहती बूंदों में अब्बा की धुंधली-धुंधली-सी परछाईं तैरने लगी. दिल में आया कि वह दौड़कर अब्बू से लिपट जाये.

शराब का दौर देर रात तक चलता रहा था. सफ़र की थकान और घर की सफाई फातिमा पर हावी होकर उसे थपथपाने लगी थी. अभी आंखें पूरी तरह बंद भी नहीं हुई थीं कि अपने बदन पर सरसराते हाथों को महसूस कर वह चौंक उठी. आंखें खुलीं, तो सामने परवेज़ नामक उस शख़्स को देखकर वह सकपका गयी. वह उसे वहशत भरी निगाहों से घूर रहा था. उसने जैसे

ही हाथ बढ़ाया, फातिमा चीख़ उठी, "ख़बरदार ! जो तूने मुझे हाथ भी लगाया..."

"प्लीज़ भाभी जान, बस एक बार...वैसे भी आपकी सुहाग रात तो हुई नहीं, क्यूं न मेरे साथ ही..." कहते हुए परवेज़ ने शिकारी कुत्ते की भांति झपट्टा मारा था. फिर शुरू हुआ था... चूहे-बिल्ली का खेल ! फातिमा चूहे-सी डरी-सहमी उस दरबेनुमा घर में दौड़ती जा रही थी और परवेज़ बिल्ली-सा चौकस होकर उसके पीछे ! आख़िरकार परवेज़ ने उसे बांहों में कस लिया था. वह छटपटाने लगी. अनायास उसने बड़ी फुरती से अपने दांत उसकी कलाइयों में गड़ा दिये. परवेज़ ने बिलबिला कर पकड़ ढीली की तो वह लड़खड़ाती हुई दौड़ पड़ी. गुसलख़ाने में पहुंचकर कुंडी लगाने के बाद ही उसकी सांस में सांस आयी थी.

सुबह अब्दुल के काफी खटखटाने पर फातिमा ने दरवाज़ा खोला था. अब्दुल को देखते ही उसकी आंखों से आंसू बह चले. बिलख-बिलख कर उसने परवेज़ की कमीनगी की बातें बतायीं. परंतु उस वक़्त वह अचंभित रह गयी जब अब्दुल ने घास पर पड़ी शबनम की बूंदों की तरह उसके ग़म को अपने पैरों तले रौंदकर कहा, "उस बात को भूल जाओ...परवेज़ उस वक़्त नशे में था."

फातिमा उस दिन पूरे वक़्त अब्दुल की कसालत के विषय में ही सोचती रही थी. अब्दुल के लिए अपनी बेगम और उसकी इज़्ज़त का कोई मोल नहीं...यह बात उसके लिए गहरे सदमे जैसी थी.

दूसरे दिन तड़के ही अब्दुल कहीं चला गया था. लौटा तो उन्हीं दोस्तों का क़ाफ़िला लेकर जो कल भी आये थे. दिन भर बाट जोहती फातिमा परवेज़ को देखते ही तिलमिला गयी थी. अब्दुल ने उसे बुलाया तो बात अनसुनी कर चुप्पी साध ली फातिमा ने. देर रात गये शराब के नशे में धुत्त दोस्तों के जाते ही वह उस पर पिल पड़ा था, "तू मेरी आवाज़ पर क्यों नहीं आयी.. ? त..तू सबके सामने अपने शौहर की बेइज़्ज़ती करवाती है...मेरी हुक्मउदूली करती है...! कान खोल कर सुन ले...आज के बाद तू मेरी लौंडी और मैं तेरा मालिक...जैसा कहूं वैसा ही करना...नहीं तो..." अब्दुल की वक़्त-बेवक़्त की तकरार और बात-बेबात पर लानत-मलामत...सब गड्ड-मड्ड होकर फातिमा के दिल को छलनी करने लगे.

न जाने कितनी बार अब्दुल ने उसे भेड़-बकरियों की तरह पीटा होगा. लात-घूंसे की आवाज़ जब दिल पर पत्थर-सी पड़ने लगी तो फातिमा उठकर आंगन की ओर बढ़ गयी. असलम मियां भी पीछे-पीछे उठकर आये थे. "क्या बात है बेटी...तू सोयी नहीं...? इतनी रात गये क्या करने आयी है यहां...?"

"बस...ज़रा कमरे में घुटन महसूस होने लगी थी..."

"देख रहा हूं...जबसे आयी हो बहुत परेशान हो...? आख़िर कुछ तो बता कि बात क्या है..."

"बात तो बस इतनी-सी है अब्बू कि मैं तुम्हारे पास हमेशा के लिए आ गयी हूं..."

"यह बात इतनी-सी नहीं बेटी...बहुत बड़ी है ! बेटी ससुराल से इस तरह आ जाये तो मां-बाप के कलेज़े पर पहाड़ आ टिकता है...! सच-सच बता फातिमा, तुममें और अब्दुल मियां में कोई तकरार तो नहीं हुई न...?"

"तुम सो जाओ अब्बू...सुबह बातें होंगी..." फातिमा ने सपाट लहज़े में कहकर अब्बा को तो चुप करा दिया. परंतु खुद बड़बड़ाने लगी, "अब्बू समझते ही नहीं कि हम औरतों को तकरार करने का कोई अधिकार नहीं ! सच तो यह है कि हमें अपनी मर्ज़ी से जीने का भी हक नहीं. हम निक़ाह से पहले वालिदैन के हुक्म की गुलाम होती हैं...और निक़ाह के बाद अपने शौहर के पैरों की जूती...!"

अब्दुल ने कभी उसे उसकी अपनी मर्ज़ी से जीने नहीं दिया ! निक़ाह करके उसने जैसे उसके सारे हक़ों को...उसकी सारी खुशियों को ख़रीद लिया था. दिन भर काम और रात गये शौहर के बिस्तर की गुलामी. ...यही उसका नसीब बन गया. पहले-पहले तो शराब के भभकों से उसे उबकाई आ जाती थी. परंतु धीरे-धीरे आदत पड़ गयी. उसने समझ लिया कि अब उसे इसी घर में अपने कटे हुए डैनों के साथ पनाह पानी है ! अब्दुल जैसा भी है, वह उसका शौहर है...उसका मालिक है और वह उसकी ज़रख़रीद पैरों की जूती ! भला जूती को क्या अधिकार जो मालिक के पैरों की लंबाई नापे. उसने कभी कोशिश नहीं की यह जानने की कि उसका शौहर क्या करता है...? दो वक़्त की रूखी-सूखी रोटी जो वह खाती है...वह कहां से आती है...? पर बातें छुपती कहां हैं. थोड़े ही दिनों बाद उसे पता चल गया कि उसका शौहर एक सिफ़र इनसान है ! जिसके लिए शराफ़त, तहज़ीब, इनसानियत जैसे शब्दों का कोई मायने नहीं ! उसके लिए झूठ, फ़रेब से पैसे कमाना मज़हब, और उन पैसों को दारू...कोठे पर उड़ा देना ईमान है !...

कई बार डरे-सहमे शब्दों में फातिमा ने हलाल की कमाई की बाबत उसे समझाने की कोशिश की थी. ...परतु अब्दुल ने उसे झिड़क दिया था. वह चुप हो गयी... अपनी आंखों को बंद कर लिया उसने. जो हो रहा है... उसे खुदा की मंज़ूरी समझ स्वीकार कर लिया फातिमा ने. साल बीतते गये... एक के बाद एक तीन बच्चों की आमद ने फातिमा को और निराश कर दिया. अब तो उसके मन से यह आशा भी छिन गयी कि बच्चों के मोह में बंधकर शायद अब्दुल सिफ़ला हरकतों को छोड़कर नेकी का रास्ता अख़्तियार कर लेगा. अब्दुल की स्थिति तो बद से बदतर होती जा रही थी. कई-कई दिनों तक घर नहीं आना...आता भी

तो बच्चों को एक आंख नहीं देखना चाहता. पता नहीं उसे बच्चों से क्या बैर था...उसने कभी ठीक से उनसे बात तक नहीं की...उस पर से हर वक़्त की लानत-मलामत ! उस दिन सबसे छोटी बेटी सलमा की तबीयत खूब ख़राब थी. रह-रह कर उलटी और दस्त हो रहे थे. फातिमा बेसब्री से शौहर का इंतज़ार कर रही थी. देर रात गये अब्दुल लौटा था. फातिमा के यह कहने पर कि सलमा को किसी डॉक्टर को दिखा दे, वह आग-बबूला हो उठा. फिर उसकी बेचारगी पर लानत बरसाते हुए कहा, "मेरे पास इन पिल्लियों के लिए पैसे नहीं...मरती है तो मरने दे..."

वास्तव में सलमा मर गयी. उसको कांपते हाथों से दफ़नाते हुए फातिमा के मन में अब्दुल के प्रति नफ़रत का लावा सुलग उठा. दिल में आया कि उसकी इस बेरहमी पर उसे खूब कोसे ! पर कभी ज़ुबान खोली हो तब न ! अपने ग़म को सीने में दबाये कई दिनों तक सिसकती रही थी. लेकिन कब तक ...? आखिर उस ग़म को भी खुदा की मंजूरियत समझ स्वीकार कर लिया उसने. लेकिन इतना होने पर भी उसका इम्तहान अभी भी ख़त्म नहीं हुआ था. ख़ुदा उसके सब्र की इंतिहा देखना चाहते थे. तभी तो अब्दुल के मन में दूसरे निकाह की बात आयी और उसने दूसरा निकाह करके उसका रहा-सहा दम भी निकाल दिया. शाम के वक़्त वह बावर्चीख़ाने में खाना बना रही थी...तभी अब्दुल ने बेहिचक सौत को लाकर सीने पर खड़ा कर दिया और कहा, "यह फ़रज़ाना है...मेरी नयी बेगम...और इन बच्चों की नयी अम्मी..."

"ख़बरदार ! जो इसे मेरे बच्चों की अम्मी कहा...मैं अभी मरी नहीं हूं..." फातिमा की आंखों से नदी बह चली और वह दौड़ती चली गयी कमरे में. औंधे मुंह गिरकर वह फूट-फूट रो पड़ी. थोड़ी देर बाद कमरे में आहट महसूस हुई थी और तुरंत बाद ही अब्दुल का स्वर गूंजा था, "आज से फ़रज़ाना इस कमरे में सोयेगी. तुम अपना और बच्चों का बिस्तरा दीवानख़ाने में लगा लो..."

कितनी आसानी से सब कुछ अब्दुल ने कह दिया... जैसे कुछ हुआ ही नहीं हो. परंतु फातिमा जानती थी कि यह एक भयानक ज़लज़ला है...जिसमें उसका घर जलने वाला है ! फातिमा के अंदर आग-सी लग गयी...कलेज़ा छलनी हो गया. उसके दिल में आया कि चीख कर कहे, "मैं क्यूं सोऊं दीवानख़ाने में...इस चुड़ैल को सुलाओ वहां ! वैसे भी इस घर पर मेरा हक है...मैंने सात सालों तक अपने खून से सींचा है इसे ! इस खंडहर को रहने के काबिल बनाया है मैंने ! और तुम कहते हो अपने सात सालों का सफ़र इसे सौंप दूं...? कोने-कोने में दबी अपने सुख और दुःख की यादों को खुरच दूं...? अपने द्वारा सजाये बागीचे को अपने हाथों से तबाह कर दूं...? नहीं, मैं ऐसा नहीं होने दूंगी..."

रात भर बिस्तरे पर करवटें बदलती फातिमा सौत रूपी किरचों को अपने बदन पर गिरते हुए महसूस करती रही थी.

रह-रह कर अब्दुल और उस औरत की खुसफुसाहट से बेचैन हो वह उठ बैठती. दिल में कई बार ख़्याल आया कि लौट जाये अब्बू के घर. परंतु अब्बू के बुढ़ापे के चैन को याद कर रुक गयी थी. नहीं....अब जो जैसा है...उसे स्वीकार करने में ही भलाई है ! वैसे भी उसका शौहर, उसका था ही कब...? जो उसके लिए मरे जा रही है ! उसने भी तो कभी उससे मोहब्बत नहीं की. सच पूछो तो नफ़रत ही नफ़रत है कलेजे में ! बस निक़ाह हुआ है...इसलिए निभाना है ! वैसे भी नसीब तो अल्लाह लिखता है...शायद अल्लाह को यही मंजूर हो...!

अल्लाह की मंजूरी समझ सौत को भी सहन कर लिया फातिमा ने. अब सुबह से शाम उसी तरह बीतने लगे, परंतु वक़्त की तासीर में वह आज़ादी नहीं होती जो पहले हुआ करती थी. बात-बात पर घर को उठा लेना कोई उसकी सौत से सीखे. बात-बेबात फातिमा और बच्चों पर पिल पड़ती वह...खुद तो कहर बरपाती ही...अब्दुल को भी सिखा-पढ़ा देती. उसके बाद अब्दुल का गुस्सा आसमान छूने लगता. वह फातिमा को तो मारता ही बच्चों को भी नहीं बख़्शता. हर पल डरी-सहमी फातिमा यही कोशिश करती कि किसी बात पर सौत नाराज़ न हो जाये.

वह खुद को तो संभाल लेती पर बच्चे...उन्हें क्या पता दुनियादारी ! उस दिन किसी बात पर अंजुम और यास्मिन में तकरार हो गयी थी. दोनों बुरी तरह लड़ने लगे. फातिमा उन्हें रोकती उससे पहले ही अंजुम ने गुस्से में आकर एक छोटा-सा रोड़ा उठाकर यास्मिन पर चला दिया. वह रोड़ा यास्मिन को नहीं लगकर सौत को लग गया. सौत ने दर्द से बिलबिलाकर अंजुम को पकड़ लिया और दो-चार थप्पड़ लगा दिये. उसने फातिमा को भी भला-

बुरा कहना शुरू कर दिया. अब्दुल घर आया तो रोने-पीटने लगी. कहने लगी, "आज तुम्हें फैसला करना ही होगा कि इस घर में मैं रहूंगी या यह चुड़ैल...!"

□

सुबह जब असलम मियां उठे तो फातिमा आंगन, दालान, कमरे आदि झाड़कर गैस पर चाय का पानी चढ़ा चुकी थी.

असलम मियां को देखते ही उसके होठें पर फीकी मुसकान छा गयी, "अब्बू हाथ-मुंह धो लो मैं चाय लाती हूं..."

चाय आदि पीने के बाद असलम मियां ने फिर बात छेड़ी, "अब बता, क्या बात है..?"

फातिमा कुछ देर तक मन-ही-मन कुछ सोचती रही थी फिर सपाट स्वर में बोली, "अब्बू, पहले तुम मेरी कसम खाओ कि मैं जितना बताऊंगी...उससे ज्यादा नहीं पूछोगे..."

"फातिमा..." असलम मियां की आवाज़ कांप गयी.

"हां...अब्बू, उससे ज्यादा तुमने पूछा तो मैं यह घर छोड़कर चली जाऊंगी..." फातिमा का स्वर कठेर हो चला था. एक पल की खामोशी के बाद उसने सपाट स्वर में कहा, "अब्बू, मेरे शौहर से मेरा तलाक हो चुका है..."

"क्या...?" असलम मियां का मुंह खुला का खुला रह गया. क्यूं..? कैसे...? किसलिए...? जैसे हज़ारों सवाल एक साथ सांप की भांति झपटे. परंतु फातिमा का कठेर चेहरा देखकर सब अंदर-ही-अंदर दम तोड़ गये. दिल में ज्यादा बेचैनी भर आयी तो असलम मियां उठकर आंगन की ओर चल दिये.

अब असलम मियां के आगे फातिमा एवं उसके गुज़ारे की चिंता मुंह बाये खड़ी हो गयी. उनका ख़र्च तो किसी तरह पेन्शन से चल जाता था. परंतु फातिमा और दो-दो बच्चों की परवरिश उसमें नामुमकिन थी. तीन दिनों से असलम मियां इसी उधेड़बुन में पड़े थे कि क्या करें और किस तरह बेटी के भविष्य की जुगत करें...? रात के खाने के वक़्त फातिमा ने पूछा था, "अब्बू मैं देख रही हूं... जबसे मैं आयी हूं तुम बहुत परेशान हो...? क्या मेरा आना तुम्हें अच्छा नहीं लगा..."

"बेटी का आना किसे अच्छा नहीं लगता...फातिमा ! पर..."

"पर क्या अब्बू...?"

"कुछ नहीं...!" असलम मियां ने गहरी सांस लेते हुए कहा, "अच्छा एक बात बता, तलाक के साथ कुछ दिया भी है या नहीं...?"

"अब्बू मैंने कुछ लिया ही नहीं ! खैर छोड़ो, मैंने आज लाल हवेली वाली बाज़ी से बात की है...उन्होंने कहा है कि पांच सौ रुपये तनख़्वाह पर वह मुझे रख लेंगी. नर्सरी के बच्चों को भी पढ़ाऊंगी और स्कूल के काम में हाथ भी बंटा दिया करूंगी. और मैंने सामने दूकान वाले दीनू काका से भी बात की है...उन्होंने कहा है कि मैं आचार...वगैरह बना के दूं तो वे उसे बेच देंगे. आधा कमीशन उनका और आधा हमारा ! अब्बू, लाल हवेली वाली बाज़ी ने भी यह भी कहा है कि वह आगे पढ़ने में मेरी मदद करेंगी...शायद अब मेरे बचपन का ख़्वाब पूरा हो जाये..."

"यास्मिन और अंजुम ....?" असलम मियां ने खोये-खोये स्वर में कहा.

"उनकी तुम चिंता नहीं करो अब्बू, उनका दाख़िला मैंने बड़ी हवेली वाली बाज़ी के स्कूल में करवा दिया है..."

दो-चार दिन अटपटे से बीते, फिर सब कुछ सामान्य ढंग से चलने लगा. फातिमा के मन में नये तौफ़ीक़ ने जन्म ले लिया तो असलम मियां को भी घर की वीरानी से निजात मिल गयी. दिन भर घर में बच्चों की चिल्ल-पों...फातिमा की मसरूफ़ियत...इसी में उलझ कर रह जाते असलम मियां. दिन कैसे कट जाता पता ही नहीं चलता. रात में खाने पर दुनिया भर की बातें चलतीं...फातिमा की अम्मी की, फातिमा के बचपन के दिनों की, असलम मियां की हज़ यात्रा की और भी बहुत सारी बातें. परंतु उसी बीच असलम मियां कभी अब्दुल का ज़िक्र छेड़ देते तो फातिमा एकदम से चुप हो जाती. एक दिन बातों-ही-बातों में असलम मियां ने पूछा था, "फातिमा सच-सच बता तुझे तेरे शौहर की याद नहीं आती...?"

"याद तो अम्मी की भी आती है अब्बू... तो क्या मैं उनके पास चली जाऊं...?" फातिमा का स्वर गंभीर हो चला, "अब्बू मैंने हमेशा ज़िंदगी को अल्लाह की मर्ज़ी मानकर कबूल किया है!" उसके दिये हर दुःख और हर सुख को इबादत समझ कर सजदा किया है ! अब्बू, उनके द्वारा दिये हुए गमों को कोसना, उनकी मुख़ालिफ़त समझती हूं मैं ! मेरे लिए जो जैसा है...ठीक है ! क्योंकि ख़ुदा कभी अपने बंदों का बुरा नहीं चाहते...

असलम मियां आश्चर्य से देखते रह गये थे बेटी को. उन्होंने भी अल्लाह की मर्ज़ी से ही ज़िंदगी गुज़ारी है. परंतु कितनी बार उन्होंने अल्लाह द्वारा की हुई नाइंसाफी के लिए उनसे शिकायत भी की थी. उनके सामने रो-रोकर वक़्तेहालात को तरमीम करने की गुज़ारिश भी की थी. परंतु फातिमा की खुदापरस्ती और उसकी ज़िंदगी के प्रति ईमानदारी देखकर उनके कलेज़े को खूब सुकून मिला.

फातिमा ने अपनी लगन और मेहनत से मैट्रिक की परीक्षा पास कर ली. टीचर्स-ट्रेनिंग पूरी करते ही लाल हवेली वाली बाज़ी ने अपनी पहुंच से उसे 'बालिका माध्यमिक विद्यालय' में शिक्षिका की नौकरी दिलवा दी. सब कुछ बहुत अच्छा चलने लगा. बच्चे भी अम्मी और नाना की देख-रेख में बढ़ने लगे. इन दिनों फातिमा को एक बात बहुत मजरूह कर रही थी कि एक-सी परवरिश में पलने के बाद भी अंजुम और यास्मिन में बहुत अंतर है ! यास्मिन

शांत स्वभाव की निहायत ही सलीके-पसंद लड़की तो थी ही, पढ़ाई में भी उसकी रुचि कुछ ज्यादा ही थी. जब कि अंजुम की बेअदबी समय के साथ बढ़ती ही जा रही थी. ...न ढंग से पढ़ना और न ढंग से किसी से बात करना. बस हमेशा बेक़ायदगी और तेज अंदाज़ में पेश आना. नाना को तो वह कुछ समझता ही नहीं था. फातिमा से भी वह मुंह लगाने लगा. फातिमा को अंजुम की चिंता परेशान करने लगी. वह जितना उसे समझाना चाहती, वह उतना ही बेशऊर होने लगा. कभी-कभार आस-पड़ोस से भी उसकी शिकायत मिलने लगी. उम्र की बारहवीं दहलीज़ पार करते ही उसमें अपने अब्बू को लेकर सवाल पनपने लगे. अब्बू कहां हैं...? वह हमारे साथ क्यूं नहीं रहते...? तुम अपने अब्बा के पास क्यूं रहती हो...? क्यूं नहीं हम अपने अब्बू के पास जाते हैं...? बढ़ती उमर के साथ उसके सवालों का दायरा बढ़ता ही गया. फातिमा के लिए यह चिंता का सबब था.

करीब छह महीने से असलम मियां की तबीयत लगातार ख़राब चल रही थी. इस डॉक्टर से उस डॉक्टर...पर बुढ़ापे का रोग भी कभी कम हुआ है ! बीमारी कम होने की बजाय बढ़ती ही जा रही थी. खांसते-खांसते रात कट जाती तो घुटने का दर्द उठने नहीं देता. और एक दिन खांसी का ऐसा दौरा उठा कि उनके प्राण लेकर ही शांत हुआ.

❐

अब्बा के जाने के बाद फातिमा अपने को बहुत अकेला महसूस करने लगी. अब्दुल से नाता टूटने के बाद छह सालों तक अब्बा का साया सर पर रहा था. इस बीच जब कभी उसे किसी बात की उलझन हुई उसे अब्बा ने पलक झपकते ही सुलझा दिया था. फातिमा की बेफ़िक्री अब्बू के जाते ही ख़त्म हो गयी. अब उसे बच्चों की ज्यादा फ़िक्र रहने लगी. जितनी देर वह बाहर रहती उसका ध्यान घर पर ही अटका रहता. हालांकि यास्मिन अम्मी के हर दुःख-सुख में साये की तरह साथ रहती. परंतु अंजुम की बेक़दरी फातिमा की ओर बढ़ती ही जा रही थी. पता नहीं कैसे अंजुम के मन में यह बात बैठी गयी थी कि अब्बू को छोड़ने में सारा दोष उसकी अम्मी का ही है ! फातिमा उसे समझाती...अब्दुल की नाइंसाफी के लिए भी कभी-कभार उसे बताती. परंतु अंजुम को फातिमा की एक बात भी सच नहीं लगती. उसका धीरे-धीरे अब्दुल के प्रति रुझान बढ़ता ही जा रहा था. एक दिन मुंह-अंधेरे ही उस पर अपने अब्बू का पता जानने की ज़िद सवार हो गयी. फातिमा ने लाख कहा कि उसके पास उसके अब्बू का पता नहीं है, पर अंजुम नहीं माना. उसने साफ़-साफ़ लहज़े में कहा कि अगर वह उसे उसके अब्बू का पता नहीं देगी तो वह खुद ही ढूंढ लेगा.

## बिन पते अब कौन पहुंचाये

✍ शैलेंद्र चौहान

*अपने पलों को*
*आज तुम जी लो सहोदर*
*मन मेरे एकाकी.*
*टूटते क्षण, प्यार करते*
*मौन दृग देते निमंत्रण.*
*कौन अपना*
*हम अकेले*
*सज गयी फिर धूल-माटी.*
*चंदन अकेला जल रहा*
*ध्वंस से कहो*
*आवाज़ दो.*
*कुछ भी नहीं जो*
*कह सके मन.*
*बह गया सब*
*धूल के कण*
*बच रहे आशा लगाये,*
*कांपते हाथों*
*लिखी थीं चिट्ठियां*
*बिन पते अब*
*कौन पहुंचाये*
*रिस गया बस एक टुकड़ा*
*बच रहा लंबा धुंआ.*

ए-१०२, जयदीप अपार्टमेंट,
जरी पटका, नागपुर ४४० ०१४

उस दिन अंजुम देर रात घर नहीं लौटा था. फातिमा बेचैनी के आलम में चहलकदमी कर रही थी. रात इंतज़ार करते हुए आंखों में ही कट गयी. यास्मिन भी नहीं सो पायी थी. रात की थकान और आंखों की नींद को भगाने के लिए यास्मिन दो कप चाय बनाकर ले आयी थी. अभी पहला ही घूंट लिया था कि दरवाज़े पर दस्तक की आवाज़ सुन यास्मिन ने दरवाज़ा खोला. सामने अंजुम खड़ा था किसी अजनबी को साथ लिये हुए. यास्मिन की आंखें उस अजनबी को देखकर सिकुड़ गयीं. वह कुछ पूछती उससे पहले ही अंजुम ने चहकते हुए कहा था, "अब्बाजान, यह हमारी बाज़ी यास्मिन है...और बाज़ी यह हमारे अब्बा जान..."

"अब्बा जान !" यास्मिन की आंखें खुली-की-खुली रह गयीं. और चाय का कप हाथ से छिटक कर चूर-चूर हो गया.

"हां बेटी, मैं तुम्हारा अब्बू हूं ! मेरे पास आओ बेटी..."

अब्दुल ने जैसे ही अपनायत दिखायी कि यास्मिन पर दौरा पड़ गया. वह पागलों की भांति चीख उठी, "ख़बरदार ! जो आपने हमें बेटी कहा ! हमारे लिए तो आप उसी दिन ही दफ़न हो गये थे, जिस दिन आपने हमारी अम्मी का अधिकार उस बदज़ात औरत को देकर, उन्हें घर से निकाला था. हम आपको नहीं जानते. अब खुदा के लिए यहां से दफ़ा हो जाइए ! हम नहीं चाहते कि आपको देखकर अम्मी के पुराने दर्द फिर से हरे हो जायें...और एक बार फिर उनकी ज़िंदगी में भूचाल आ जाये..."

"यह आप कैसी बातें कर रही हो...बेटी ? अपने अब्बू से ऐसे बातें की जाती हैं क्या ?" अब्दुल शिकायती स्वर में बोला.

"अब्बू ! हमें तो इस नाम से नफ़रत है ! प्लीज, आप चले जाइए और अपना ज़लील चेहरा फिर मत दिखाइएगा !"

"ठीक है चला जाऊंगा, परंतु एक बार फातिमा से मिलना चाहता हूं." अब्दुल ने एक-एक शब्दों को चबाते हुए कहा.

"नहीं, अम्मी आप से कतई नहीं मिलेगी. आप जाइए यहां से." यास्मिन का लहज़ा कठोर था.

"अंजुम...तुम जाओ बेटे, अपनी अम्मी को बुला लाओ."

"नहीं अंजुम, तुम नहीं जाओगे." यास्मिन ने अंजुम को रोकने की कोशिश की, परंतु अंजुम उसकी बातों को अनसुनी कर अंदर चला गया. अगले पल ही फातिमा दरवाज़े पर थी. अब्दुल के चेहरे पर नज़र पड़ते ही फातिमा के होश उड़ गये और उसके चेहरे पर अतीत के आतंक चमक उठे...

"फातिमा, हम आपको लेने आये हैं. पुरानी बातों को भूलकर हमारे साथ चलिए..." कहते हुए अब्दुल ने जैसे ही कदम बढ़ाया, यास्मिन ने रास्ता रोक लिया. वह फातिमा के आगे ढाल की तरह खड़ी होती हुए बोली, "ख़बरदार ! एक नीच एवं ज़लील इनसान, इस सफ़ा घर में कदम नहीं रख सकता..."

अब्दुल का चेहरा अपमान से लाल हो गया. वह क्रोध से कांप उठा, "बहुत ज़हर उगला है आपने हमारे खिलाफ़ ! इसका बदला हम ज़रूर लेंगे..."

अब्दुल ने बदला ले लिया ! पता नहीं उसने अंजुम को क्या पट्टी पढ़ाई कि अंजुम दूसरे ही दिन घर छोड़कर चला गया. सुबह चाय देने गयी फातिमा को अंजुम नहीं, उसका ख़त मिला. ख़त पढ़ते ही फातिमा के होश उड़ गये. वह पछाड़ खाकर गिर पड़ी. रोती बिलखती फातिमा एक ही रट लगाये थी कि अंजुम किसी तरह वापस आ जाये. वह उसके बिना ज़िंदा नहीं रह सकती. उसे बार-बार यह बात खटक रही थी कि उसकी आख़िर तरबियत में ऐसी कौन-सी कमी रह गयी कि अंजुम उसे छोड़कर हमेशा के लिए अपने अब्बू के पास चला गया. मन का रोग शरीर को घुन की तरह खाने लगा. खाना-पीना तो छूटा ही, आंखों में इंतज़ार इस तरह समाया कि नींद हमेशा के लिए रूठ गयी. यास्मिन ने उसे कई डॉक्टरों को भी दिखाया...पर मन का रोग कहीं दवा से छूटा है ! उसकी स्थिति और ख़राब होती चली गयी.

फातिमा के इस तरह पड़ जाने से घर का सारा बोझ यास्मिन पर आ गिरा. पैसे की तंगी के कारण उसे दो-तीन ट्यूशन पकड़ने पड़े. घर और बाहर के कामों से थकी-हारी यास्मिन पूरी कोशिश करती कि उसकी अम्मी अंजुम को भूलने की कोशिश करे. परंतु मां की ममता बेटे की जुदाई से समझौता नहीं कर पाती. स्थिति यह हुई कि हर आहट उसे अंजुम के आने का पैगाम देती. रह-रह कर वह चौंक उठती और यास्मिन को पुकार उठती, "यास्मिन देखो तो कौन आया है...?" "लगता है...दरवाज़े पर अंजुम है...!"

नींद में कई बार यास्मिन ने अपनी अम्मी के बड़बड़ाने की आवाज़ सुनी थी. वह रात भर अंजुम के विषय में ही कुछ-कुछ बड़बड़ाती रही थी...और यास्मिन दीवार पर नज़र टिकाये...मन-ही-मन कुछ सोचती रही थी. सुबह यास्मिन जब फातिमा को चाय देने गयी तो उसके पैताने बैठ गयी. कुछ पलों तक वह फातिमा को चाय पीते देखती रही फिर बोली, "अम्मी, अब आपकी स्थिति मुझसे नहीं देखी जाती. मैंने सोचा है मैं खुद जाकर अंजुम को ले आऊं..."

"त...तू सच कह रही है...बेटी..." फातिमा की बुझी आंखें जुगनुओं-सी टिमटिमा गयी.

"हां..मैं सच कह रही हूं..मैं खुद उसे लाने जाऊंगी. परंतु.."

"परंतु....क्या बेटी ?" फातिमा की आंखें उस पर स्थिर हो गयीं.

"अगर अंजुम नहीं आया तो मैं भी लौट कर नहीं आऊंगी...कहीं और चली जाऊंगी..."

"या...यास्मिन..." फातिमा की आवाज़ कांप उठी.

"हां...अम्मी, अब मैं यह सहन नहीं कर सकती कि हमेशा ज़िंदगी के सुख-दुःख को खुदा की मर्ज़ी समझ कर जीने वाली मेरी अम्मी...नामाकूल बेटे के ग़म में इस तरह ग़मगीन हो जाये कि वह जीने की चाहत ही खो दे..."

"य...यास्मिन यह तू क्या कह रही है बेटी..." फातिमा की आंखों से झर-झर आंसू गिरने लगे.

"मैं ठीक कह रही हूं...अम्मी, जो बेटा अपनी अम्मी के त्याग और बलिदान को उसकी खुदग़र्ज़ी समझ उसे ठोकर मार कर चला गया...उस खुदगर्ज़ बेटे के लिए मेरी अम्मी का इतना मजबूर होना मैं नहीं देख सकती. मैं नहीं सहन कर सकती कि मेरी बहादुर अम्मी बुज़दिलों-सी ज़िंदगी जिये ! म...मैं कल ही चली जाऊंगी...अंजुम को लेने..." कहती हुई यास्मिन फफक-फफक कर रो पड़ी और लगभग भागती हुई-सी फातिमा की आंखों से ओझल हो गयी. फातिमा की भीगी आंखें कहीं शून्य में अटक गयीं.

सुबह दो-चार कपड़े थैले में डालकर यास्मिन जैसे ही चलने को तैयार हुई, फातिमा ने उसे रोक लिया और कहा, "यास्मिन, तू अंजुम को लाने नहीं जायेगी..." फातिमा का स्वर दृढ़ था.

"अम्मी..." यास्मिन ने हैरत से अपनी अम्मी को देखा तो फातिमा के होठों पर उदास मुस्कान छा गयी. फिर उसने आहिस्ते से हाथ बढ़ाकर यास्मिन का हाथ थाम लिया और खोये-खोये स्वर में कहा, "कल रात ख़्वाब में अब्बू आये थे...मुझसे बहुत नाराज़ नज़र आये. पूछने पर बोले, "मैं तुमसे बहुत नाराज़ हूं !" तुमने अपने ग़मों का ढिंढोरा पीटकर खुदा के फैसले की ख़िलाफत की है ! उनकी बादशाहत के प्रति अपनी नाराज़गी जतायी है ! मैं तो यही समझता था कि खुदा के हर फैसले को उनका हुक्म समझ कर स्वीकार करने वाली मेरी बेटी कभी दर्द के साये में नहीं सिमटेगी. कभी आंसू नहीं बहायेगी. परंतु मुझे क्या पता था कि एक बेगैरत बेटे के लिए वह अपनी जान तक देने के लिए आमादा हो जायेगी."

"यह आप क्या कह रहे हैं अब्बू...?" फातिमा ख़्वाब में ही बड़बड़ायी थी.

"मैं ठीक कहता हूं फातिमा...अंजुम बेगैरत और अहसान-फरामोश लड़का है...उसकी नज़र में तुम्हारे जज़्बात और इतने सालों के दर्दभरे सफ़र की कोई अहमियत नहीं ! ज़रा यास्मिन को देखो कितना प्यार करती है तुमसे ! तुम्हारे हर एक आंसू बरछी बन धंस जाते हैं उसके सीने में ! तुम उसे नज़र-अंदाज़ कर अंजुम के पीछे भाग रही हो. यह यास्मिन के प्रति नाइंसाफी है, उसके त्याग के प्रति बेगानगी है ! बहुत हुआ, अब तुम किसी की बेशरमी को किसी के माथे का बोझ नहीं बना सकती..फातिमा ! तुम्हें भुलाना ही होगा, सब कुछ भूलना होगा. फिर से एक बार ज़िंदगी के झरोखे से खुद को देखना होगा...और एक बार फिर खुदा की मर्ज़ी समझ इस ग़म को भूल जाना होगा.. शायद तभी मेरी तड़पती हुई रूह को सुकून मिलेगा..." उसके बाद मेरी नींद खुल गयी. मैं रात भर सोचती रही कि मुझे क्या करना चाहिए. सुबह की पहली दस्तक के साथ ही मेरी आंखों पर पड़ा परदा हट गया. मुझे लगा, अब्बू ठीक ही कहते हैं कि खुदा की मर्ज़ी ही सर्वोपरि है !"

"हां अम्मी...जो इनसान खुदा पर भरोसा करता है...खुदा उसकी हर तरह से हिफ़ाजत करता है ! उसे हर ग़म को सहने की ताकत देता है...!"

"आमीन !..." फातिमा ने हाथ उठकर अपने खुदा को धन्यवाद दिया और यास्मिन के गले लग गयी. गले मिलते ही दोनों मां-बेटी के आंसू छलक पड़े. परंतु ये दुःख के नहीं, खुशी के आंसू थे...जिसमें अंजुम की जुदाई का दर्द नहीं...बल्कि उसके न लौट के नहीं आने की कसक थी...

चुरू कोठी हाता, मोराबादी, रांची-८३४००८

लघुकथा

# बेचना

## ✍ डॉ. सुरेंद्र गुप्त

'अरे, कहां से आ रही है, खेलने गयी थी क्या ?' वह आंगन में बिछी चारपाई पर पड़ा-पड़ा ही बोला था.

'यहीं बाहर थी बापू.' फिर कुछ क्षण रुक कर बोली - 'वह जो हमारे घर के नुक्कड़ वाले मकान में एक औरत रहती है, उसकी दो लड़कियां भी हैं, एक छोटा-सा भइय्या भी है, पीछे उनके बापू भी मर गये थे ना. उनके घर पुलिस आयी है.

'पुलिस आयी है !' पुलिस के नाम से उसके रोंगटे खड़े हो गये थे तथा चेहरे पर हवाइयां उड़ने लगी थीं, उसे लगा था, पुलिस उसी के घर आयी है.

वह धीरे से फुसफुसायी, 'बापू पता है, वह अपनी दोनों लड़कियों को बेच रही थी. बेचते-बेचते रह गयी, किसी ने पुलिस में खबर कर दी, जो खरीदने आये थे, वे भी पकड़ लिये गये.'

'पर तुम्हें यह सब कैसे पता चला ?' उसे अपनी बेटी की बात पर विश्वास नहीं हो रहा था.

'बापू तुम को खाट पर पड़े रहते हो, बीमार हो, बाहर की बात तुम्हें कैसे पता चले, पूरे मोहल्ले में तो शोर मचा हुआ है.'

कुछ क्षण चुप्पी पसरी रही आंगन में. लड़की ने जिज्ञासावश एक प्रश्न बापू की ओर दाग दिया - 'बापू ! क्यों बेच रही थी वह अपनी लड़कियों को ?'

'बेटा, गरीबी बहुत कुछ करवाती है, छोटे बेटे को दूध चाहिए, पेट की भूख के अलावा तन ढांपने के लिए कपड़ा भी तो चाहिए, ख़ुद भी तो बीमार रहती है, दवा के लिए भी पैसे चाहिए. पैसा ही सब कुछ करवाता है. तेरे भाई हैं ना, घर से कोसों दूर गये हुए हैं, इसी पेट की खातिर, कोई मजदूरी करता है, कोई रिक्शा चलाता है, तब कहीं जाकर कुछ पैसे भेज पाते हैं, और जैसे-तैसे घर का गुज़र हो पाता है.' उसने अबोध बिटिया को समझाने की कोशिश की थी.

'बापू, यदि मेरे भाई न होते, पैसे कमा कर नहीं भेजते, तो क्या तुम भी मुझे बेच देते ?' लड़की ने भोलेपन में पूछ लिया था.

'चुप,' बापू जोर से चिल्लाया था. और वह सहम कर भीतर भाग गयी थी, जहां उसकी मां शाम की रोटी के लिए चूल्हा फूंक रही थी.

आर. एन. - ७, महेश नगर, अंबाला छावनी १३३ ००१ (हरियाणा)

कहानी

# 'हम जिंदा हैं !'

घर में घुसर पुसर चल रही थी. बातें हवा में उछलती उसके पास भी आयी थीं. और कानों ने लोक ली थीं.

बारह बरस बाद कुंभ का मेला लगा है. इस सदी का आखरी मेला. डुबकी लगा ले तो बस पुण्य ही पुण्य है और पुण्य समेटने को सारा घर उतावला हो उठा है. रघुनंदन तो खैर घर का कर्ताधर्ता ठहरा, जायेगा ही, और साथ में बहू रधिया भी जायेगी फिर बच्चे क्या पीछे रहने वाले हैं ? वे ही चहक रहे हैं पर कोई भी उससे आकर नहीं पूछता, "दादी चलोगी न दादी तैयार हो जाओ." रहा नहीं गया. लाठी उठा कर किसी तरह धुंधलाती आंखों से अपने कमरे की देहरी पार की. आंगन से ही बतकही का शोर उठ रहा था. वह उधर हो ली. रामदेई को आते देख सभी चुप हो गये. एक क्षण के चुप के बाद जाने कहां-कहां की बातें होने लगीं. दो क्षण चुप रह कर रामदेई से ही नहीं रहा गया, पूछ बैठी साफ़ साफ़, "बेटा ! बच्चे कह रहे हैं तुम कुंभ नहाने जाना चाह रहे हो. भला सुनूं तो ! कब का हिसाब जुड़ा रहे हो ? चलो भली सोची तुमने. इस बार तो महाकुंभ है, बड़ा पुण्य का काम है. यह जन्म तो सुकारथ लग जायेगा. दुनिया से उठने से पहले कुंभ नहा कर पुण्य समेट लूंगी."

एक क्षण रुक कर कांपते मन से उसने फिर भी पूछ ही लिया, "मेरा टिकट भी ले लिया है न बचुआ ?"

'अरे अम्मा ! तुम क्या करोगी जाकर ? तुम्हें सुझाई देता नहीं ठीक से. झट सर्दी खा जाती हो और इस बार तो ठंड भी कितनी कड़ाके की पड़ रही है. इतनी सर्दी में ठंडे पानी में कहां नहा पाओगी. फिर घर भी अकेला हो जायेगा. काहे के झंझट में पड़ रही हो ?"

एक सांस में रघुनंदन सब कारण गिनाता चला गया.

"झंझट की भली कही तूने. फिर तू ही क्यों झंझट पाल रहा है ? मेरा ज़िंदगी का आखरी स्नान हो जायेगा. तेरे आगे तो सारी ज़िंदगी पड़ी है अगले कुंभ में नहा लीजो. मैं कौन सा अगले कुंभ तक रहने वाली हूं."

"पर अम्मा हमारे ही टिकट में कितना खर्चा हो रहा है जानती नहीं हो. तुम्हारे का जुगाड़ किधर से करूंगा ?"

अम्मा की आंखें और आवाज़ दोनों ही भर आयीं. आज सात साल हो गये यही सुनते-सुनते. जिस घर की छांव में पल-बढ़ कर रघुनंदन आज आराम से अपनी गृहस्थी चला रहा है, है तो वह उसी की बचत-जोड़ का फल. किस तरह से परिश्रम करके रघुनंदन के बाप ने यह पैसा कमाया और उसने जोड़ा. एक-एक करके कमरे चिनवाये कि आज तीन कमरों के गुजारे लायक उसी के घर में रह कर, उसी का बेटा उसी पर होने वाले खर्चे की बात उठा रहा है.

शुरू से ही वह खुद्दार रही है. पैसे के लिए मुंह ना जोहना पड़े किसी का. सदा ही अपनी आन इसमें बनाये रखती आयी है, पर खुद के जाये बेटे के आगे भी यह आन रखनी होगी यह नहीं सोचा था.

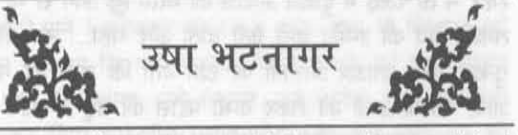


एक ठंडी सास लेकर रामदेई ने इतना ही कहा -"पैसे की फिक्र ना करो तुम. अपने टिकट का जुगाड़ मैं कर लूंगी."

रघुनंदन चुप रह गया. आंखें उठा कर देखा मां के पास कुछ जेवर तो बचे नहीं हैं. थे ही कितने ? रहे सहे कान में छोटे छोटे टॉप्स पड़े हैं. अब क्या उनकी भी बारी है. रधिया से भी क्या कहें. अपने तीन बच्चों की परवरिश में ही कमर टूट रही है. अपना कुछ कर नहीं पाते. सालों से नहीं गये. सो अब जब कुंभ मेले की बात उठी तो एक पंथ दो काज वाली बात हो गयी. धर्म और बच्चों का मनोरंजन अलग. अब उसमें मां के लिए क्या सोचें ? मरने को बैठी है. गठिया का दर्द जान लेवा है ही सदा का, ऊपर से आये दिन कभी सर्दी खांसी, तो कभी बुखार. उसके इस कभी कुछ में थोड़ा बहुत तो लगा ही रहता है ! ले जाने में हज़ार झंझट हैं. घर में रहेगी तो घर की चौकसी ही हो जायेगी. अब क्या पुण्य कमाना. ज़िंदगी तो बीत गयी. अब औरों को पुण्य कमाने दो न. सोच कर उसने भी बीवी की हां में हां मिला दी थी पर अब...

चलो देखें क्या जुगाड़ करती है वह...कर लेगी तो चली चलेगी. सोच कर वह चुप रह गया -- और मां के कर्ण फूल भी नहीं रहे. बचे पैसे अपनी अंटी में गांठ बांध कर उसने टिकट के पैसे ला कर रघुनंदन के हाथ में पकड़ा दिये. अब उसे ना करने की गुंजाइश ही नहीं बची.

दो दिन और दो रातों का लंबा सफ़र था. बस से, ट्रेन से सफ़र करते-करते सभी हल्कान होने लगे. परंतु प्रयाग की धरती पर पांव रखते ही सारी थकान छू हो गयी. इतना बड़ा मेला.

चारों ओर लोग ही लोग दिख रहे थे. हज़ारों साधू-सन्यासियों के अखाड़े. लाखों टेन्ट, कितनी पुलिस, कितनी रौनक सब तरफ फैली हुई. कहीं से कीर्तन की धुन उठती तो कहीं से प्रवचन की, तो कहीं बच्चों के लिए ढेरों सामान व तरह-तरह के खाने का आयोजन. छोटे शहरों से आये लोगों की आंखें तो इतना बड़ा आयोजन देख कर फटी की फटी रह गयीं. सूरज की पहली किरण से पहले ही श्रद्धालुओं का जमघट संगम में डुबकी लगाने को तैयार हो जाता. बच्चे और रामदेई तो पगला गये जैसे. पहली सुबह तो पूरा परिवार साथ-साथ ही डुबकी लगा कर आया, फिर सबने अपने-अपने साथी ढूंढ़ लिये. पास के कमरे में ठहरे गोरखपुर से आये जनार्दन बाबू बड़ी उम्र के थे, अपने बड़े परिवार के साथ ठहरे थे. उनकी माता जी से रामदेई की खूब पट गयी. दोनों ही सूरज के उठने से पहले डुबकी लगाने को उतावली हो उठतीं. कड़क थरथराती सर्दी में अपने शहर में तो रजाई में दुबकी अंगीठी की मरती हुई आग से भी मोह लगाती चाय की उम्मीद बांधे बैठी होतीं और यहां... रात से ही चुनकर धोती ब्लाउज अलगनी पर टांग देतीं कि कहीं देर न हो जाये. रधिया बच्चों को लेकर कभी पड़ोस की बहू के साथ मेले का चक्कर काटने चल देती तो कभी रघुनंदन के साथ प्रवचन सुनने. रघुनंदन भी कभी उनके साथ हो लेता तो कभी साधुओं के अखाड़े की ओर मुड़ लेता. जनार्दन बाबू से उसकी खूब पट गयी थी. इतनी मुद्दत के बाद घर से निकल पाये थे तो लंबा ठहरने का ही विचार था. पर ये पांच-छह दिन तो ऐसे ही फुर्र से उड़ गये कि पता ही नहीं चला. मेला धीरे-धीरे समाप्ति पर आ रहा था. लोग अपने ठिकानों पर जाने के लिए बोरिया बिस्तर समेटने लगे थे. ट्रेनें भरी हुई आतीं तब पता नहीं लगा था. पर अब जाती हुई ट्रेनें और प्लेटफॉर्म एक साथ जाते लोगों से ऐसे ठसाठस भर गये कि पुलिस को स्टेशन की ओर आने वाले रास्ते ही बंद कर देने पड़े थे. टिकट हाथ में लिये लोग अपनी ट्रेनों को छूटती देखते रह गये थे. भीड़ को पार कर डिब्बे में चढ़ ही नहीं सके. ट्रेनों के अंदर जितनी भीड़ थी उतने ही लोग छतों पर चढ़े बैठे थे. सुन सुन कर ही रघुनंदन और रधिया हौलाने लगे. छोटे बच्चों का और असहाय वृद्धा का साथ. जनार्दन बाबू का रास्ता उल्टी दिशा में था पर उम्र में अनुभवी सलाह वे भरपूर दे सकते थे. दोनों सिर जुड़ाये देर तक हिसाब बैठाते रहे लौटने के रास्ते का.

उस रोज़ भी तड़के सुबह उठ कर रामदेई कंबल से शरीर को लपेटे अपनी रात की चुनी रखी धोती ब्लाउज उठा कर पड़ोसी माई के संग डुबकी लगाने चल दी लाठी टेकती. जी भर के नहाने की बात ही नहीं थी ! एक ही डुबकी इस कड़कड़ाती सर्दी में लग जाये बहुत है. बस एक मौनी अमावस्या का स्नान खूब प्रेम से किया था और बूढ़ी हड्डियों को खूब ठंड भी लगा दी थी. देर तक अंगीठी की आग सेंकती खांसती रहती थी. ढेरों दवाइयां खानी पड़ी थीं और रघुनंदन की बीस बातें भी सुननी पड़ी थीं. पर भरोसा हो रहा था कि इतने दिनों से इतनी डुबकियां लगा ली हैं तो भगवान ज़रूर सब पाप धो डालेंगे. अब तो और यह जन्म सुकारथ कर ही देंगे. अपनी गांठ में कस कर बांधे बच गये रुपयों से उसने थोड़ा बहुत दान पुण्य भी कर दिया था. पिछले जन्म के पुण्य के मारे ही इस जन्म में यह सौभाग्य मिल सका है. बार-बार हाथ जोड़ कर भगवान के और गंगा मैया के आगे सिर नवाती रामदेई कृतार्थ थी. बेटा-बहू को भी जी भर के आसीस देती कि वे साथ लिवा लाये. अकेले उसे कहां समझ थी, बूता ही नहीं था.

दोनों जनी लौटे तो सभी बाहर गये हुए थे जो एक आम बात थी - सब मेला देखने गये होंगे सोच कर उसने आंचल में बंधे पैसे खोल कर गर्मागर्म चाय का कुल्हड़ ले लिया और समोसे भी. गुनगुनी धूप में बाहर बैठी बदन सेंकती चाय सुड़कती रही.

उषा भटनागर

*एम. ए. (राजनीति शास्त्र)*

***लेखन*** : *सभी प्रमुख पत्रिकाओं में अनेक कहानियां प्रकाशित.*

***प्रकाशन*** : *दो कहानी-संग्रह, 'गंगाजल और अन्य कहानियां' तथा 'अपना-अपना आसमान' प्रकाशित. तीसरा कहानी संग्रह शीघ्र प्रकाश्य. कुछ कहानियों के गुजराती और अंग्रेजी में अनुवाद भी हुए हैं.*

***पुरस्कार*** : *महाराष्ट्र हिंदी साहित्य अकादमी द्वारा १९९९ में, 'अपना-अपना आसमान' कहानी-संग्रह पुरस्कृत.*

***विशेष*** : *चित्रकारी की ओर विशेष रुझान. मुंबई के नेहरू सेंटर की ए. एन. जेड. आर्ट गैलरी व ओबरॉय टॉवर्स के आर्ट वाक में एकल प्रदर्शनियां आयोजित. शीघ्र ही जहांगीर आर्ट गैलरी में प्रदर्शनी का आयोजन. उषा जी की पेंटिंग्स के लिए कृपया निम्नउल्लेखित वेबसाइट देखें.*

**www.google.com** (search for Usha Bhatnagar) तथा **www.indiaworld.co.in**

पास की माई भी आ बैठी साथ में धूप सेंकने रोज़ की तरह.

"तुम्हारे जन नहीं दिखते. आये नहीं घूम कर अभी ?"

"ना जी. और तुम्हारे बेटा-बहू भी बाहर गये दिखे हैं."

"आते होंगे मेला ख़त्म हो रहा है. चलने की बेला आ रही है. अब जानो उन्हें भी यही वक़्त मिला है मौज मस्ती का. अपने शहर में तो घर और दफ़्तर का काम ही घेरे रहता है सबको."

"तुम्हारी बहू तुमसे काम करवाती है क्या ?"

"अरे ना रे. मेरे में ताकत ही कहां है. अपना ही कर लूं बड़ी बात है. बस कभी कभार सब्जी काट दी तो उसी में अंगुलियां अकड़ने लगती हैं. दिखता भी कम है तो झन्ना जाती है. देर होती तो उठा कर ले जाती है खुद कर लेती है. तेजी है उसके हाथ में."

"अरे अपना जमाना था तो तेजी क्या कम थी अपने हाथों में ? तब तो आज के जैसे पिसा-पिसाया आटा, मसाले नहीं मिलते थे. पौ फटे से पहले ही कूटना-पीसना शुरू हो जाता था. सासू मां का रुआब भी कितना था. अब की बहुएं कहीं सुनती हैं दो बात ? मर्द तो पल्लू में बंधे रहते हैं इनके. हम तो मुंह भी इनका देख नहीं पाये सालों तक ठीक से. देर रात में ये आते और हम तड़के सुबह उठ जाते. अब दिये की रोशनी में भला क्या दिखता? आवाज़ से ही पहचान पाते थे शुरू के कुछ सालों तक तो." और गंगा माई पोपली हंसी हंस दी. रामदेई अपने ब्याह और गौने की भूली-बिसरी बातें सालों बाद हमउम्र पा कर सुनाने लगी. पेट जब कुड़मुड़ाने लगा तो दोनों को होश आया कि सर्दी का सूरज सिर से कुछ ज्यादा ही ऊपर चढ़ गया है और बच्चे कोई दिखे नहीं. पेट की तरह मन भी खाली-खाली लगने लगा. रामदेई ने उठ कर कमरे का चक्कर लगाया तब गौर नहीं किया था अब ज्यादा टटोला. खटिया के नीचे संदूक नहीं था रघुनंदन का और कोने में लपेटा बिस्तरा भी नदारद था.

कलेजे पर किसी ने मुक्का मारा. चक्कर-सा आया. सहारा लेकर खटिया पर बैठ गयी. सब चले गये, पर क्यों ? ऐसे कैसे चले जायेंगे बिना उसे लिये, बिन कुछ कहे-सुने ? आयेंगे, कुछ काम पड़ गया होगा. अचानक रोज़ भोंपू पर खो गये लोगों की पुकार सुननी याद आयी. जी घबराने लगा. बाहर लाठी टेकती आयी तो गंगा माई चौखट पर कलपती बैठी मिल गयी. दोनों की निगाहों में एक ही सवाल था और ज़वाब भी.

जैसे-तैसे पास की पुलिस चौकी पर पहुंची. "बेटा बहू ठिये पर नहीं लगे हैं सुबह के गये. ज़रा भोंपू पर बोली बुलवा दो भाई. कहीं खो तो नहीं गये."

इस प्रार्थना पर पुलिस वाले की भौंह तनी. रोज़ ही यह तमाशा दिख रहा है. कुंभ ना हुआ, प्रयाग ना हुआ, अनाथालय हो गया है. अभ्यस्त होता जा रहा है अब तो वह इस सबका फिर भी कटाक्ष से पूछा, "अम्मा जी कौन खो गया ? आप या आपके बेटे बहू ?

"हम क्यों खोयेंगी ? तुम्हारे सामने खड़ी हैं. कहीं मेले में या संगम नहाते वक़्त कोई परेशानी आ गयी दिखे है, ज़रा रघुनंदन प्रसाद नाम पुकार दो और हां इनके बेटे का नाम है जनार्दन सिंह यह भी पुकार दो भाई."

शाम गहराते तक रह-रह कर दोनों नामों की पुकार होती रही. अपने ठिये पर बैठी दोनों बुढ़ियाओं के कानों में नाम गूंजते रहे. आंखें पानी से लबालब भरती गयीं. सुबह होने पर आज किसी का मन दुबकी लगाने को नहीं हुआ. दोनों गुड़ी-मुड़ी सी एक दूसरे के पास पड़ी रहीं.

हां सच में वे ही खो गयी हैं. रामदेई ने अंटी के पैसे गिने. बस छह सात दिन के खाने भर के रह गये हैं. बड़ी चली थी दान पुण्य करने. अब बैठो, खुद भी उन्हीं की कतार में दो जून की रोटी पाने ! कड़वाहट से मन ने कहा. फिर भी विश्वास नहीं हो पा रहा था कि वही रघुनंदन जिसे आंचल का दूध पिलाया था, गोदी में खिलाया, सारे मनुहारे, उसे परदेश में ऐसे बेसहारा छोड़ कर बिना कुछ बोले चला जायेगा. बहू भले दूसरे घर की आयी है, पर बेटा तो अपने तन से जन्मा, वह ऐसा करेगा ? शून्य-सी पथराई आंखों से वह चुप बैठी रहती. वापसी के टिकट के पैसे भी उसने रघुनंदन को दे दिये थे उसने टिकट भी निकाला था तो अब वापसी में साथ ले जाने में उसे क्या परेशानी हो गयी? गंगा माई का और भी बुरा हाल था.

"पीछे पड़े थे मेरे. चलो अम्मा तुम्हें कुंभ नहला लायें. क्या इसी मारे कुंभ लाये थे ? घर में मरती तो बेटे के हाथ से मुखाग्नि तो मिलती. साथ नहीं रखना था तो कह देते, दूसरे बेटे के घर चली जाती. बेटी की ही चौखट पर जा पड़ती ? सब अपने तो होते. घर की दहलीज तो मिलती. ऐसी दुर्दशा तो न होती कि भीख मांग कर पेट की आग बुझानी पड़ रही है." बेटे के लिए आह निकालते-निकालते भी मां का मन रुक जा रहा था.

"अम्मा जी किस गांव की हो ? पता ठिकाना मालूम हो तो बताओ. भेजे का इंतज़ाम करें. समाज सेवा संस्था के गुप्ता जी आकर धीरज बंधा रहे थे." आप जैसी बहुत हैं यहां. कुछ सच में बिछुड़ गयी हैं तो कुछ..." आगे वे चुप हो गये. कल तक की ही गिनती दो हज़ार से ऊपर हो रही थी इस महाकुंभ में छोड़ी गयी ऐसी असहाय बुढ़ियों की.

"भैया हम तो बिछुड़े नहीं हैं. हमें तो छोड़ा गया है," एक ठंडी सांस लेकर रामदेई ने स्वीकारा. "तुम्हीं कहो अब ऐसे में फिर जाकर उनके मत्थे पड़ेंगे तो क्या होगा ? समझ सकते हो न भैया ?" तिक्तता से रामदेई ने कहा, "बड़ी दूर से आये हैं, दो दिन, दो रातों का सफ़र करके. बरसों बाद घर की दहलीज

छोड़ी थी कुंभ नहाने के पुण्य के लोभ में. बस अच्छी गति हो गयी. बचपन यहीं गुज़रा था हरदोई में पर अब वहां कोई नहीं अपना. ब्याह कर अंजर जो गयी तो साठ साल से ऊपर हो गया. वहीं गृहस्थी करते ज़िंदगी बिता दी और अब आखरी समय में..." आंखें और आवाज़ फिर रुआंसी हो गयी.

"अंजर की ?" -- चौंक कर गुप्ता जी सीधे बैठ गये. हाथ से कागज़ छूट कर नीचे गिर गये. उन पर ध्यान दिये बिना वे रामदेई की ओर गौर से देखते रहे.

"हां भैया."

"पर वहां तो बहुत बड़ा भूचाल आया है अम्मा जी. आपको नहीं पता ?"

"ना बेटे. हमें अपनी ही सुध नहीं. बाहर की ख़बर क्या रखें. क्या हुआ अंजर में ?

"अरे अम्मा जी सारा शहर क्या आस-पास के सब गांव-शहर तबाह हो गये. इतना बड़ा भूचाल कभी नहीं आया. राम.. राम.. बड़ा जान माल का नुकसान हुआ है. हज़ारों लोग मर गये और शहर तो सारा विध्वंस हो गया, कोई घर नहीं बचा."

रामदेई स्तब्ध बैठी रह गयी. एक क्षण को बड़ी चाहों से बनाया घर आंखों में कौंधा फिर बेटा-बहू, बच्चे याद आये. उस पल को मन में आया, 'लो सजा मिल गयी न मां पर जुल्म ढाने की.' फिर खुद को ही कोसा. जी घबराने लगा पोते-पोती याद कर विह्वल हो उठी.

"कब आया ?"

"यही छब्बीस तारीख को, तीन दिन हुए."

छब्बीस तारीख... तीन दिन हुए... मन ने दोहराया. आज यहां अकेले बैठे कितने दिन हुए ? अंगुली पर हिसाब लगाया - अरे वही एक दिन पहले ही तो वह यहां छोड़ दी गयी थी. यानि पच्चीस को तो... छब्बीस को तो वे लोग अंजर में हो ही नहीं सकते. ज़रूर ट्रेन में होंगे. चलो वे तो सब बच गये. घर गया तो गया. एक गहरी सांस आयी. अब जायेंगे खंडहरों में. निकाल दिया न मां को उसके ही घर से. लो वह घर ही नहीं रहा. भगवान भी सब देखता है, सजा देता है. बनाओ अब अपना घर खुद से तब पता चलेगा किस तरह बनता है घर.

'घर.'

घर की याद आ कर रामदेई माथे पर दुहत्थड़ मार कर भरभरा कर रो दी. आज उसका सच का बेटा, उसका घर - जिसने उसे आज तक सुख-दुख में, गर्मी बरसात में छांव दी थी, सुख दिये थे, चल बसा था.

❐

रामदेई के उसी बेटे के भग्न शरीर पर चुपचाप रघुनंदन और रधिया खड़े हुए चारों ओर हुए सर्वनाश को देख रहे थे. कोई भी तो घर साबुत नहीं बचा था. कौन-सा अपना घर था यही समझ में नहीं आ पाया था. टूटे-फूटे सामानों में अपनी परिचित वस्तुओं से ही वे उस मलबे के ढेर में अपना मलबा ढूंढ़ पाये थे और कुछ साबुत बचा है कि नहीं कि खोज में वे सब लगे हुए थे. भूकंप की ख़बर ट्रेन में ही मिल गयी थी, सारे ब्यौरों के साथ अखबारों में छपी. बच गयी जान के अहसास के साथ घर ख़त्म हो जाने का मातम मन में गहरा था. इस चढ़ती महंगाई में बढ़ती उम्र की बेकार होती मां के बढ़ते रोगों के बढ़ते खर्चों से कुंभ स्नान कर उन्होंने निजात पा ली थी. अब रोज़ संगम नहायेगी, पुण्य कमायेगी, अपने जैसों के साथ मन लग जायेगा और अनेक संस्थाएं हैं जो दान पुण्य करके उनके जैसियों का पेट भर देती हैं. फिर प्राण छूटेंगे तो तीर्थ का पुण्य लेकर सीधे स्वर्ग सिधारेगी. अपनी टोली में बहुतों के मुंह से यह सब सुनते-सुनते उसके मन में भी इसका औचित्य बैठ गया था. प्रयाग से ट्रेन में चढ़ना मिल नहीं रहा था. दूसरे स्टेशन से किसी तरह ट्रेन पकड़ी तो भी यात्रा पूरी कहां हो पायी ! अपना ठिकाना आने से पहले ही ट्रेन रुक गयी तब कभी बस, तो कभी पैदल, जैसे-तैसे किसी तरह अपने शहर चार दिन में जाकर लगे तो चारों ओर विनाश का खेल दिख रहा था. कुंभ के मेले की ऐसी जीवंत रौनक देखने के बाद विध्वंस का ऐसा विकराल रूप देख कर जी दहल गया था. कल से ढूंढ़ते-ढूंढ़ते अपना घर आज समझ पड़ा. मलबे के ढेर से घर का जो भी सामान काम आ सके निकालने में पूरा परिवार जुटा था. तभी बड़ी परिचित आवाज़ सुनाई दी. मुड़ कर देखा - चार घर छोड़ अवतार सिंह का घर था वे भी बड़ी विक्षिप्त-सी हालत में खड़े थे.

"आ गये भैया कुंभ स्नान कर के. भली रही, तुम सबको तो प्रभु ने कुंभ में बुलाकर बचा लिया. हमारे तो सभी ख़त्म हो गये. जो घर में था घर का ही हो गया. मैं दूध लाने बाहर गया था. बस मैं अभागा बच गया. फूट-फूट कर रोते अवतार सिंह के पास रघुनंदन आ खड़ा हुआ. सांत्वना के क्या शब्द बोले समझ में नहीं पड़ा. खुद ही धीरज बांध कर दो क्षण बाद अवतार सिंह अड़ोसी-पड़ोसियों का हाल देने लगा. "ना तो भैया नत्थू राम के घर का कोई बचा, ना लक्ष्मी नारायण जी के घर का. बस देखो प्रभु की माया. साल भर की शांति बच गयी. संस्था वाले ले गये हैं उसे. जब तक और कोई घर वाला नहीं आता संभालेंगे. फंसे हुए लोग अभी भी निकाले जा रहे हैं और दूसरी ओर लाशों का ढेर लग रहा है. चीन्हे भी नहीं जाते बाज लोग तो. कोई सड़ गया है, कोई कुचल गया है. ऐसा सर्वनाश तो कभी ना सुना, ना सोचा जो दिख रहा है." अपनी रौ में बहते हुए उसे अचानक ख्याल आया, चारों ओर निगाह घुमाई और पूछा - "अरे तुम सब

तो यह रहे, पर अम्मा जी ? किधर हैं वे ?" एक क्षण सन्नाटा खिंचा रहा.

कौन बोले की उहापोह में रघुनंदन ने रधिया को देखा. फिर रधिया का ही स्वर आया हिचकते हुए, "अम्मा जी. अम्मा जी ही को तो हम लोग ढूंढ़ रहे हैं. उन्हें यहीं छोड़ गये थे घर की देख-रेख के लिए. इतनी बूढ़ी हैं. जा-आ सकती नहीं. दिखता भी नहीं ठीक से, तो खुद ही बोलीं कि मैं जाकर क्या करूंगी? मेरी ओर से तुम लोग मेरे नाम की डुबकी लगा लेना. घर की रखवाली भी तो ज़रूरी है. इधर ही मैं बनी रहूंगी. कल से उन्हें ही ढूंढ़ने में हम सब लगे हैं. अभी तक को मिली नहीं. नीचे तक का मलबा उठे तो कुछ पता चले."

दो दिन से रटते-रटते रधिया को सब कंठस्थ हो गया था. फिर भी स्वर कंपकंपा रहा था. रघुनंदन सिर नीचे किये मलबे के ढेर को उठाने की नाकाम कोशिश करता रहा. ट्रेन में ही पता लग गया था. घर का मुआवज़ा सरकार दे रही है और घायलों और मृतकों के लिए भी सरकार भरपूर मुआवज़ा देगी. मेले में छोड़ी गयी मां को मलबे में दबा कर कितना कुछ और भी मिल सकता है उसके नाम पर इसकी उधेड़बुन में वह लग गया था.

❐

उधर रामदेई की गांठ के पैसे चुकने को आ गये थे. एक वक़्त तो खाना खाना ही पड़ेगा, जब तक शरीर है पर फिर जब उतना भी नहीं रहेगा तब...? असहाय है वह, पर अपनी उस खुद्दारी का क्या करे ? सड़क पर हाथ फैला कर बैठने से तो अच्छा है संगम में संपूर्ण डुबकी ही लगा ले, पर धर्मभीरु मन उससे भी उसको रोकता रहा.

गुप्ता जी जब फिर आये तो वह निश्चय ले चुकी थी उहापोह से उबर कर. गंवई गांव की जाहिल औरत ठहरी पर घर का अता-पता तो उसे कंठस्थ ही था. पता देते हुए साथ ही कहा,"भैया हमारे वापसी के टिकट कटे हुए हैं पक्के. आप रेलवई बाबू से पता करा लो. उनके पर्चे में हमारा, हमारे घर के सभी लोगों का नाम पता आपको बरोबर मिल जायेगा. हम वापसी का टिकट का पैसा भर चुके हैं पहले ही."

गुप्ता जी चुपचाप उसका मुंह देखते रहे. दो तीन मुलाकातों में ही वे उसके स्वाभिमानी स्वभाव को पहचान गये थे. इस संस्था में काम करते-करते अरसा बीत गया था. कौन सिर पड़ा है और कौन सिरफिरा, समझते थे.

"हां अम्मा. हमने पता कर लिया है आपके ही टिकट से आपको घर भेजेंगे," आश्वासन वे उसे थमा गये.

❐

दस-पंद्रह दिन से ऊपर बीत गये थे. रघुनंदन सरकारी दफ़्तर के टूटे-फूटे कमरे के ही कितने चक्कर काट आया था. सब दर्ज करा दिया था उसने. अपने घरवालों के लिए लंगर से खाना लेते हुए छीना-झपटी भी करनी पड़ी...लाइन में भी लगना पड़ा और तब एक पल - 'अम्मा भी ऐसे ही खाने के लिए औरों का मुंह जोह रही होगी' का ख्याल उसके मन में उबरा और तब मन में आया कि लो भगवान ने उसे भी वैसा ही दिन अपने शहर में ही दिखा दिया है. पर इस ख्याल को परे धकेल कर वह घर के इंतजाम और पेपर ठीक कराने में मशगूल हो गया. अपने घर के मलबे की चौकसी करता, उसके पास ही टूटी खाटों-लकड़ियों को खड़ा कर टीन का पतरा डाल कर टपरा-सा बना कर रहने की व्यवस्था कर ली थी.

"तो यह तुम्हारे घर का नंबर है पांच सौ नब्बे ? सर्वेक्षण करने आये अधिकारी ने अपनी किताब और नक्शे को देख कर ठीक किया. उसके आगे हाथ जोड़ कर रघुनंदन खड़ा हो गया.

"अच्छा तो तुम्हारे घर में सिर्फ तुम्हारी माई ही दबी ? यानि तुम्हें दो चीज़ों का मुआवज़ा चाहिए, ठीक है न ? यह घर किसके नाम था ?

"जी... मेरे...!"

बात पूरी नहीं हो पायी थी कि पीछे से एक लरज़ता पर दृढ़ स्वर आया. "ना बाबूजी ना... यह घर मेरे नाम है. बड़ी मेहनत से हमने इसे बनाया था." चौंक कर पीछे मुड़कर देखा सबने.

लाठी पर बदन का पूरा भार डाले रामदेई खड़ी थी पर तनी हुई. हकबकाते हुए रघुनंदन और रधिया के भौंचक्क से मुंह खुले रह गये. वितृष्णा की निगाह उन पर डाल कर उसने अधिकारी की ओर मुख करके दृढ़ स्वर में कहा---

"भैया, हम रामदेई हैं. आपको पुराने कागज़ मिल जायें तो हमारे भतार का नाम उसमें लिखा मिल जायेगा. वे हमारे नाम इस घर को कर गये थे." कड़वाहट से बेटा-बहू पर निग़ाह डाल वह आगे बोली, "हम कुंभ मेले में छूट गयी थीं. अब जाकर घर लगी हैं. घर हमारे मर्द ने बनाया था, हमारे नाम मरते वक़्त कर गये थे सो घर का मुआवज़ा हमें ही मिलेगा. आप जान लो यह सच कि अभी हम ज़िंदा हैं."

पास पड़े पत्थर पर अपनी लाठी टिका कर हांफती हुई वह बैठ गयी. रघुनंदन और रधिया भौंचक्क से सन्न. जस के तस वैसे ही खड़े रह गये.

ई/७७ ए बीनस अपार्टमेंट,
वर्ली सी फेस, मुंबई ४०० ०१८.

कहानी

# संदेह के घेरे

सुबह का नाश्ता कर वह तैयार होने लगा, उसे तैयार होता देख सबकी नज़रों में एक ही सवाल था - कि कहां जायेगा ? मोजों को हाथ में लेकर उसने हमेशा की तरह मां की ओर कनखियों से देखा - अभी वे बोलेंगी, 'इतना बड़ा हो गया है मोजे धोकर नहीं पहन सकता ? गंदा कहीं का,' यह वाक्य वह कई सालों से सुनता आ रहा है, पर उसने पलटकर ज़वाब कभी नहीं दिया. पता नहीं मां को धुले हुए मोजों से भी बास क्यों आती है ? नहीं मां, आज चुप है. मोजों पर कोई टिप्पणी नहीं की है, आज मां ने अपने लंबे बालों में कंघी नहीं की है. वैसे ही खुले छोड़ रखे हैं, शायद सिर धोया है. उसे बचपन याद आ गया. जब वह उनके बालों में अपना मुंह छुपा लिया करता था. मां के बालों से एक मीठी-मीठी खुशबू आती थी जिसे वह लंबी-लंबी सांस भर कर अपने अंदर समो लेता था. कई बार तो रेशमी बालों को खोलकर उन पर सिर रखकर सो जाता था. ऐसा करके उसे एक अलौकिक आनंद मिलता था. पर बचपन के साथ-साथ उसका यह सुख भी छिन गया. जैसे ही वह मां के जूड़े की तरफ हाथ बढ़ाता, वे उसे डांट देती - 'ये बचकानी हरकतें छोड़ो, अब तुम बड़े हो गये हो.'

आज फिर उसका दिल कर रहा था मां के खुले बालों को छूकर उस सुगंध का आनंद उठाने को. पर अब ऐसा नहीं कर सकता. बालों की तरफ हाथ बढ़ाते ही मां उसका हाथ झटक देगी, यह कहते हुए - इतना बड़ा हो गया है, लेकिन बचपना नहीं गया. इस ख़्याल को वहीं छोड़ उसने जल्दी से जूते पहने और हुक पर टंगी जैकेट उतार कर पहनने लगा तो उसमें से एक अजीब सी महक आ रही थी. ड्रेसिंग टेबिल पर से उसने परफ्यूम लिया और स्प्रे करने लगा. उसे स्प्रे करते देख आज मनु चिल्लाई नहीं, चुपचाप उसे देखे जा रही थी. पहले तो परफ्यूम को हाथ लगाते ही सारा घर सिर पे उठा लेती थी - बस करो कितना उड़ेलोगे, सारा घर महकने लगा है. बालों में कंघी करते हुए वह सोच रहा था - पापा ने अब तक नहीं पूछा कि मैं कहां जा रहा हूं. यहां तक कि बंसी काका और मिसराईन भी चुप हैं. घर का हर प्राणी मौन साधे हुए है. कोई बोलता क्यों नहीं ? उसका मन हो रहा था सबको झिंझोड़-झिंझोड़ कर पूछे कि आप लोगों ने मुंह पर ताले क्यों लगा रखे हैं. कुछ बोलते क्यों नहीं ?

करीब डेढ़ साल बाद वह घर आया है. सेना में कमीशन मिलते ही उसकी पोस्टिंग श्रीनगर में हो गयी थी. फिर उसके बाद कारगिल. घर आने का मौका ही नहीं मिला. एक महीने की छुट्टी पर घर आया तो सभी के चेहरे खिल उठे थे. आस-पड़ोस का हर कोई उसका हालचाल पूछने आया सिवाय एलिन के जो उसके बचपन का दोस्त था. कल रात बातों-बातों में जब उसने एलिन और उसके परिवार के बारे में पूछा तो किसी ने कुछ नहीं बताया. बहुत जोर देने पर पापा ने बस इतना ही कहा था - दिलों में द्वेष पैदा हो जाये तो संबंध बिगड़ने में देर नहीं लगती. बरसों का भाईचारा, मेल मिलाप सब एक छोटी सी ग़लतफहमी की भेंट चढ़ गये.

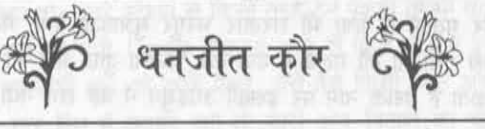


"मैं जब यहां था तो सब ठीक-ठाक था. अब ऐसा क्या हो गया जो एक दूजे के खून के प्यासे बन गये ?"

"बेटे, जातिवाद के ज़हर ने लोगों को टुकड़ों में बांट दिया है. अल्पसंख्यकों को यह डर है कि बहुसंख्यक उन पर जान-बूझकर अत्याचार कर रहे हैं. ईसाइयों के धर्मस्थल तोड़े जा रहे हैं और पादरियों की हत्याएं हो रही हैं. सारे ईसाई खुद को असुरक्षितं महसूस कर रहे हैं. इसलिए वे हमसे कोई संबंध नहीं रखना चाहते."

"उन्होंने कहा और आपने मान लिया. डेविड अंकल तो आपके बचपन के दोस्त हैं. इतनी गहरी दोस्ती में दरार पड़ी कैसे. आपने उन्हें समझाया नहीं ? जो कभी आपका दाया हाथ थे उन्हीं से आपने संबंध तोड़ लिये. पापा एलिन ने मुझे पत्र में लिखा था कि आप लोग पिछले क्रिसमस पर उसके यहां भी नहीं गये थे उनकी खुशी में शरीक होने."

"यह सही है, दो समुदायों के बीच इतना कुछ अप्रिय घट चुका था कि पास-पास रहते हुए भी हम दूर हो गये."

"मुझे आप साफ़-साफ़ बतायेंगे ।"

"हां क्यों नहीं, पिछले क्रिसमस के कुछ दिन पहले डेविड की सारी फसलें जलकर राख़ हो गयी थीं. अभी उस हादसे से वे लोग उभरे भी नहीं थे कि डेविड के छोटे भाई डॉ. जॉन का अपहरण हो गया और आज तक उनका पता नहीं चला. तेरे डेविड अंकल को भड़काने वालों ने कहा कि इसमें चौधरी परिवार का हाथ है. उनका तो यहां तक मानना था कि डेविड के खेत भी

हमने ही जलवाये थे. उनके मोहल्ले में कोई भी वारदात होती तो डेविड के संदेह की सुई हम पर आ टिकती. धीरे-धीरे संदेह यक़ीन मे बदलता गया. उन लोगों ने खुले आम चुनौती देते हुए कहा - वार करना है तो सामने से करो. पीठ पीछे छुरा घोंपकर दोस्ती को क्यों बदनाम करते हो ? हमारे आदमी भी गुस्से में थे अपना आपा खो बैठे. हाथापाई की नौबत आ पहुंची बस उसी दिन से लोग एक-दूसरे के दुश्मन बन गये."

"कितनी शर्म की बात है पापा. हम सरहद पर बैठे सोचते हैं कि हमारी सबसे बड़ी ताकत हमारे देशवासियों का आपसी मेल-मिलाप है. जो अनेकता में भी एकता की डोर से बंधे हुए हैं. इस देश में रहने वाला हर इंसान भारतीय है. जाति, धर्म, भाषा, समाज अलग हैं तो क्या हुआ हमारी सोच एक है, हमारे विचार एक हैं. देशवासियों की यही भावना हमें दुश्मन से लोहा लेने को प्रेरित करती है. बिना किसी भेदभाव के हम वहां कंधे से कंधा मिलाकर देश के लिए लड़ते हैं और आप लोग यहां छोटी-छोटी बातों को लेकर आपस में झगड़ते रहते हैं. अपने ही खून से अपने हाथ रंगते हैं कितने दुख की बात है. पर मैं ऐसा नहीं होने दूंगा. मैं डेविड अंकल और एलिन से जाकर मिलूंगा उन्हें समझाऊंगा. वहां जाने से मुझे कोई नहीं रोक सकता. हर बार जाता हूं इस बार क्यों नहीं ?" कहते हुए रोष से उसकी आंखें लाल हो गयीं. उसके गुस्से के सामने सबने हथियार डाल दिये किसी में इतनी हिम्मत नहीं थी कि उसे मना कर सके. बात को वहीं ख़त्म कर सभी अपने कमरों में दुबक गये.

अगले दिन सुबह किसी ने भी बीती रात की बातों को न दोहराया, न उससे ही कुछ कहा. सभी बस अपने-अपने काम में मग्न थे. या फिर वे दिखावा कर रहे थे. वह तैयार होकर बाहर निकला तो देखा पापा आंगन में बैठे पेपर पढ़ रहे थे. वह उनके पास ही बैठ गया. उन्होंने अख़बार तह करके अपनी गोद में रख लिया और बोले - "बेटे अमन! हम जानते हैं तू और एलिन एक दूसरे की जी जान हो. तुम्हें कभी किसी ने वहां जाने से रोका है ?"

"तो फिर आज क्यों ?"

"क्योंकि परिवेश में ज़हर घुला है. परिस्थितियां इज़ाज़त नहीं देतीं."

"तू समझता क्यों नहीं वे लोग हमारे खून के प्यासे हैं." मां ने भरे गले से कहा, जो पापा की चेयर के पीछे खड़ी थीं.

वह उनसे नज़रें मिलाना नहीं चाहता था. क्योंकि वह जानता था, अगर उसने उनके अश्रुपूर्ण चेहरे को देख लिया तो एलिन से मिलने कभी नहीं जा पायेगा.

"लोग अपने-पराये की पहचान तक भूल गये हैं. हर किसी को शक के दायरे में बांध लेते हैं." सहमी हुई मनु ने मां-बाप का पक्ष लेते हुए कहा.

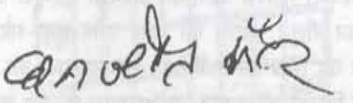

१० अक्तूबर १९५५,
एम. ए. (हिंदी)

**लेखन** : *कहानियां, कविताएं तथा लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित. अन्य भाषाओं से हिंदी में अनुवाद.*

**संप्रति** : *गृहिणी. स्वतंत्र लेखन.*

---

"अच्छा, अपने-बेगाने की बड़ी समझ आ गयी है तुझे. चार अक्षर क्या पढ़ लिये दिमाग़ में फालतू की बातें घूमने लगी हैं. यह जो अपने-पराये की रट लगाये बैठे हो तुम लोग, क्या डेविड अंकल ने हमें कभी पराया समझा था. हर दुख-सुख में उनसे बढ़कर हमारा अपना कौन था ? याद है न पापा का जब एक्सीडेंट हुआ था और चार महीने अस्पताल में रहना पड़ा था तब कौन था हमें सहारा देने वाला. तब रात-दिन कौन था हमारे पास ? अपनों ने तो पूछा तक नहीं था. तब ये लोग ही हमारे सब कुछ थे. तब तो जात-धर्म का विचार नहीं आया था. एकाएक यह नफ़रत का ज़हर कैसे दिलों में घुल गया." कहते-कहते वह उत्तेजित हो उठा.

"बेटे, तू बिल्कुल सही है. डेविड को अपना न कहूं तो किसे कहूं ? उन्हें जो कभी इस दहलीज़ पर पांव रखने नहीं आये. कभी ख़बर तक नहीं ली कि कहीं कुछ देना न पड़ जाये." पापा ने बड़े ही गंभीर अंदाज़ में ये शब्द कहे थे. एक-एक शब्द का अपना वज़न था. अमन के पास उनकी बातों का कोई ज़वाब न था.

"बेटे डेविड के व्यवहार ने मुझे सबसे ज़्यादा व्यथित किया है."

"पापा, यह चाल अवश्य कुछ स्वार्थी लोगों की रही होगी जो हमें अलग करना चाहते थे. वे कामयाब हो गये. इस दुश्मनी को जितना बढ़ाते जाओगे बढ़ती जायेगी. पापा हमें इसे ख़त्म करना है." बिलख पड़ा था अमन.

"जा बेटे, तू जा. तू समझदार है. अपना बुरा-भला समझ सकता है. तुझे अपने मिशन में कामयाबी मिले यही मेरी दुआ

है." पापा से इज़ाज़त मिलते ही वह बाहर निकल आया, मां के साथ तर्क करना नहीं चाहता था. हालांकि उसे पता था कि उसके जाते ही मां-बाप दोनों में ठनेगी ज़रूर.

तेज कदमों से चलता हुआ वह डेविड अंकल के घर की तरफ़ जाने वाली सड़क पर आ गया. डेविड अंकल के घर तक पहुंचने के लिए उसे दस-पंद्रह मिनट लगते हैं. अमन के चलते कदम एकाएक उस चौराहे पर आकर रुक गये जहां नत्थू की चाय की दुकान थी. इस चौराहे के चारों कोनों में कई ऐसी छोटी दुकानें थीं जो वहां से गुज़रने वालों की ज़रूरतों को पूरा करती थीं. जैसे हरिया का सैलून, भोला की पंचर और हवा भरने की मशीन, डॉ. दास का छोटा सा क्लीनिक, ट्रक ड्राइवरों का गुरू ढाबा और परसू की किराने की दुकान जो आसपास के गांव वालों की ज़रूरत की चीज़ों का ध्यान रखकर खोली गयी थी. पर यहां सबसे पहले नत्थू ने अपना कब्ज़ा जमाया था. शुरूआत तो दो बेंचों और एक टेबिल के साथ हुई थी. पर अब कुर्सी मेजों की कतारें लगी हैं. गरम-गरम चाय पकौड़ों के साथ अब वह केक, बिस्कुट और मिठाइयां भी रखता है. पर लोगों को तो बस उसके चाय पकौड़े ही पसंद हैं. एलिन और उसका यह मीटिंग पाइंट हुआ करता था. वे अक्सर यहीं बैठकर बातें किया करते थे. कहीं जाना हो तो यहीं खड़े होकर एक-दूसरे का इंतज़ार करते थे. इस टी-स्टाल के साथ उनकी बहुत सी यादें जुड़ी हैं.

वह खड़ा होकर सोच ही रहा था कि चारों तरफ़ से उसके दोस्तों ने घेर लिया, "कब आया ?" "कैसा है ?" "कितनी छुट्टी मिली है," आदि सवालों की झड़ी लगा दी.

"आ थोड़ी देर यहां बैठकर गप्पें मारते हैं, साथ ही गरम चाय और पकौड़ों का मज़ा लेते हैं."

दोस्तों के आग्रह को वह टाल नहीं सका और बैठ गया. चाय की चुस्की लेते हुए वह भावुक हो उठा और बोला, "लड़ाई के दौरान तो लगता था कि कभी घर वापस आ ही नहीं पाऊंगा. हर वक़्त मौत का साया मंडराता रहता था. जब भी कोई साथी दम तोड़ता तो लगता अब हमारी बारी है. कई बार तो मौत का ग्रास बनते-बनते बच जाते थे. जब हमारे बहुत ही करीब आकर कोई बम फटता था. बैरकों से निकलते थे तो मन में यही बात होती थी कि क्या पता लौट सकेंगे भी या नहीं."

उसकी बातें सुनकर उसके दोस्तों के चेहरों पर कई रंग आ-जा रहे थे. वे उसके अनुभवों से अवगत होना चाहते थे पर उसे डेविड अंकल के पास जाने की जल्दी थी.

"जरा देर और बैठ न अमन अच्छा लग रहा है तेरे मुंह से यह सब सुनना," कहते हुए निरुपम ने उसका हाथ पकड़ लिया.

"अच्छा अमन क्या तू अब भी पहले की तरह कविताएं लिखता है ? तेरी उस कविता को तो हम अक्सर दोहराते रहते हैं जिसमें तूने शब्दों में ज़िंदगी की एक खूबसूरत तस्वीर खींची थी."

*"ज़िंदगी एक मधुर गीत है, इसे गाते चलो गुनगुनाते चलो।"*
*कारवां ज़िंदगी का गुज़र जायेगा, तुम हंसते हुए मुस्कुराते चलो।*
*मंजिल की दूरी का गम न करो, कदमों को अपने बढ़ाते चलो।*
*दुख नहीं गर राहों में कांटे बिछे हैं, बन फूल खुशबू लुटाते चलो।*
*नग्मा है एक ये ज़िंदगी, इसे सांसों की लय पर गाते चलो।*
*ज़िंदगी तुम्हें कभी, तुम ज़िंदगी को, आजमाते चलो।*
*गुनगुनाते चलो मुस्कुराते चलो।*

अरुण ने जैसे ही कविता ख़त्म की अमन ने ठंडी आह भरते हुए कहा, "कविताएं तो पता नहीं कहां छूट गयीं. जीने की प्राणशक्ति ही जैसे ख़त्म होती जा रही है. जिधर देखो सिवाय बनावटीपन के कुछ भी नज़र नहीं आता. आदमी पशु से भी ज़्यादा हिंसक बन गया है. हृदय की कोमलता, दया, प्रेम सभी कुछ ताक पर रख इतना निर्दयी बन गया है कि उसे मनुष्य कहते हुए शर्म आती है."

"अमन तू तो अपने मकसद में कामयाब हो गया है, तेरे सामने जीवन का लक्ष्य है. हम तो जीवन की भूलभूलैया में ही उलझे हैं. आये दिन कोई न कोई दंगा-फसाद, मार-काट होती रहती है. जीवन चक्रव्यूह बन गया है पता नहीं कब निकल पायेंगे," कहते-कहते अनु की आवाज कहीं खो गयी थी.

"अब मैं चलूं ?"

"तू जा कहां रहा है ?" सभी ने एक स्वर में पूछा.

"एलिन से मिलने." यह कहकर मानो उसने भयंकर विस्फोट कर दिया हो. सभी के चेहरे गंभीर हो गये.

"तू जानता है कहां जा रहा है ? जान-बूझकर मौत को बुला रहा है. तुम्हारे परिवार के साथ उस गांववालों की जानी दुश्मनी है. कारगिल से तो बच आया है, पर वहां से जीवित लौटना मुमकिन नहीं. एलिन ने हमें भी क्रिसमस का न्यौता दिया है पर क्या पता इसके पीछे उसकी मंशा क्या है, सारा मुहल्ला ईसाइयों का है. कुछ भी हो सकता है, वहां इंसानी रिश्तों की कोई कीमत नहीं रही," अरुण ने उसे समझाते हुए कहा.

उसकी बातों से अमन का खून खौल उठा, बचपन का दोस्त जिसके साथ खेलते-कूदते बड़े हुए हैं उसी पर शक ? पर वह बात को बिगाड़ना नहीं चाहता था. मुस्कुराते हुए बोला, "तुम लोग तो जब चाहो उससे मिल सकते हो, पर मेरे पास वक़्त कम है." और वह उठ गया.

चलते-चलते वह वहां पहुंच गया जहां सड़क के दोनों ओर बस खेत ही खेत थे. जिधर भी नज़र जाती नीला अंबर सुनहरी बालियों जड़ी धरा को चूमता नज़र आता. धान की फसल पूरी पक चुकी है, कहीं-कहीं तो कटाई भी शुरू हो गयी है. खेतों और

गांव की सीमा के बीच, सीने पर सलीब सजाये बरसों से खड़ा है चर्च - जहां इसाई समुदाय प्रार्थना करने आते हैं. चर्च के सामने से गुज़रते हुए हर इसाई को अपने सीने पर क्रॉस बनाते हुए उसने एक नहीं कई बार देखा है. बचपन से लेकर अब तक वह इस राह से कई बार गुज़र चुका है. शहर के शोर-शराबे से दूर, खेतों में से होते हुए एलिन के गांव आना अमन को अच्छा लगता था. जिधर देखो हरियाली ही हरियाली थी. पर आज अमन को वह हरियाली हिंसा की आग में झुलसी हुई नज़र आयी. नारियल के पेड़, केले के पौधे सभी आग की लपटों में झुलस-झुलस कर काले पड़ चुके थे.

उसके मन में शंका उठने लगी. सूनसान राह पर चलते हुए उसके दिल की धड़कन तेज होती जा रही थी. सभी ने इधर आने से मना किया था पर वही जिद पर अड़ा था. अपनी मूर्खता पर अब पछता रहा था. आना ही था तो किसी एक दोस्त को साथ ले आता, अकेले आने की क्या ज़रूरत थी ? उसको तरह-तरह के ख़्याल आते रहे पर वह रुका नहीं, बढ़ता ही गया. गांववाले उसे जानते हैं. बिना वज़ह भला क्यों कोई अटैक करेगा ? खुद को समझाते हुए वह चलता रहा. 'हालात अच्छे नहीं हैं कभी भी कुछ भी हो सकता है, निरुपम के कहे शब्द उसे याद आ गये.'

गांव में मरघट-सी उदासी छायी हुई थी. कहीं कोई आहट नहीं. चलते-चलते उसे बेस कैंप की वह घटना याद आ गयी. रात में सर्च के लिए निकला तो अचानक उसके पैर किसी चीज़ से टकरा गये और वह गिर पड़ा था, टॉर्च की रोशनी में देखा तो कुचली हुई एक लाश थी. डर के मारे चीख़ उसके गले में अटक गयी. उल्टे पांव भागता हुआ बैरक पहुंचा. जब अपने साथियों के साथ वहां गया तो लाश गायब थी. उस हादसे को नहीं भूल सका. युद्ध के दौरान कई ऐसे हादसे हुए. कई बार तो लाशों को अपने कंधों पर उठाकर लाना ले जाना पड़ता था. आज भी उसकी हालत कुछ वैसी ही थी. पर आगे बढ़ने के सिवा कोई चारा न था.

मन को कठोर करते हुए खुद से कहा, 'बस थोड़ी दूर पर ही तो गांव का स्कूल है और फिर उसके बाद डेविड अंकल का घर. अब तो मंजिल आ गयी है.' पर यह क्या ? स्कूल की ज़गह तो झुलसा हुआ ढांचा खड़ा है. अधजली चौखटें और दीवारें अपनी कहानी कह रही थीं. इंसानियत के दुश्मनों ने इसे भी नहीं छोड़ा. कितनी दौड़-भाग की थी डेविड अंकल ने विद्या के मंदिर को साकार रूप देने के लिए. एक-एक ईंट को जोड़कर उन्होंने इस परिसर को बनाया था. कितनी चोट पहुंची होगी उन्हें ? एक पल के लिए वह फिर कारगिल पहुंच गया जहां बम के धमाकों से मंदिर, मसज़िद, स्कूल-कॉलेज सब स्वाहा हो जाते हैं. फ़र्क बस इतना है कि उन कारनामों को दुश्मन अंजाम देता है और यहां अपने ही अपनों का मलियामेट करने में तुले हैं. कौन समझाये इन्हें ?

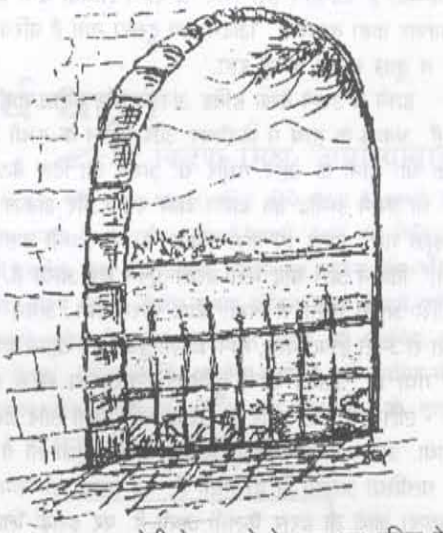

उसे धक्का-सा लगा. थोड़ी देर रुकने के बाद वह एलिन के घर की तरफ़ बढ़ गया.

पहले जब अमन इधर आता था तो गांव के लोग उससे पूछते नहीं थकते थे. कहां जा रहे हो, एलिन के पास ? मास्टर के घर जा रहे हो क्या बेटे ? उस समय वह सबका अपना था. सभी उसे जानते थे. पर आज तो जैसे सभी अजनबी हों. स्नेह और अपनत्व की जगह शक और आतंक है. लोग घरों में दुबके पड़े हैं. शायद ही कोई ऐसा मकान हो जो अग्नि देवता के प्रकोप से बचा हो. पूरे के पूरे गांव को हिंसा की अग्नि लील गयी थी. हर कोई टूटा, बिखरा, असहाय था. जीने का तो जैसे संबल ही छूट गया हो.

अमन को श्रीनगर में थोड़ी ख़बर मिली थी. पर वास्तविकता इतनी भयावह होगी उसने कभी सोचा नहीं था. उसका हृदय कराह उठा. क्यों होता है ऐसा ? उसे लगा वह एक बार फिर बारूद के धुंए में घिर गया है. उसका सिर चकराने लगा. फिर भी वह लड़खड़ाता हुआ आगे बढ़ता गया. आज उसे पूछने वाला कोई न था. सभी के होठें पर चुप का ताला लगा हो जैसे, एलिन और डेविड अंकल का रवैया भी क्या ऐसा ही होगा ? क्या आंटी मुझे बिना खाना खिलाये ही वापस भेज देंगी ? क्या उन्होंने मेरे लिए क्रिसमस पाई नहीं बनायी होगी. एक के बाद एक विचार मन में उठ रहे थे और विचारों में खोया वह कब एलिन के घर के गेट तक पहुंच गया पता ही नहीं चला. गेट के दोनों तरफ लगे नारियल के पेड़ बुरी तरह से जल चुके थे. वहीं खड़ा वह पूरे घर का निरीक्षण करने लगा. घर की नये सिरे से मरम्मत की गयी है. कोने में पड़ा किवाड़ अपनी कहानी खुद कह रहा था कि किस बेदर्दी से इस घर को तबाह किया गया था. यह डेविड अंकल

की हिम्मत है जिन्होंने इसे फिर से रहने लायक बना लिया है. वे अक्सर कहा करते हैं, 'ज़िंदगी का दूसरा नाम है परिवर्तन, सो कुछ न कुछ सृजन करते रहो.'

इतने में उसने देखा डेविड अंकल और एलिन कहीं से आ रहे हैं. अंकल के हाथ में रिवॉल्वर और एलिन के हाथों में हॉकी स्टिक थी. दोनों के चेहरे गंभीर थे. अमन का दिल बैठने लगा. फिर भी उसने उम्मीद का दामन थामे रखा और अंकल के पैरों पर झुक गया. दूसरे ही क्षण अंकल ने उसे अपनी बांहों में भर लिया, "कितने अर्से बाद मेरा बच्चा अपने घर आया है." कहते हुए उसे अपनी छाती से लगा, प्यार करने लगे. अमन भी उसी शिद्दत से उनसे लिपट गया, मानो किसी डूबते को चट्टान का सहारा मिल गया हो. उसकी सारी दुविधाएं, सारे भय ख़त्म हो गये.

एलिन भी बड़े प्यार से उसके गले मिला और उसे अंदर ले गया. अमन ने आ गये दुराव का कारण पूछा तो वे बोले - "बेटे ग़लतियां आदमी से ही होती हैं. पर ग़लती को समय रहते न सुधारा जाये तो दरार फैलती जाती है. पर इसके लिए किसी एक को तो पहल करनी ही पड़ती है. जैसा कि आज तुमने किया है. मुझे अफ़सोस है कि मेरे और चौधरी के आड़े हमारा अहम आ गया जिसके कारण दूरियां बढ़ती गयीं. गांव की ज़मीन बेचकर तो उन्होंने सारे संबंध ही तोड़ लिये. अब क्या हो सकता है ?"

"नहीं अंकल, आपको मेरा साथ देना होगा, बाकी मैं संभाल लूंगा. मैं बॉर्डर पर बैठ आप लोगों की दोस्ती की मिसालें देता था और आप लोग यहां एक दूसरे के जानी दुश्मन बने हैं. जानते हैं आज जब मैं यहां आने के लिए निकला था तो सभी ने कहा था, कारगिल से बच आया है पर एलिन के कोप से बच नहीं पायेगा. परंतु मुझे अपनी दोस्ती और आपके स्नेह पर भरोसा था. और सभी बाधाओं को लांघ कर आया हूं. अंकल आपको भी दोस्ती के बीच आयी खाई को पाटना होगा, फिर से दोनों परिवारों को मिलाना है."

"अमन बेटे, तू ठीक कहता है, दुश्मनी में खोना ही खोना है, लोग तो दिलों में दरारें पैदा कर तमाशा देखते हैं. वक़्त पर दोस्त ही दोस्त के काम आता है. मैं तो इन दोनों को समझाकर हार गयी हूं. मेरी एक नहीं सुनते, पता नहीं वह दिन कब आयेगा जब हम साथ-साथ पहले की तरह होली, दीवाली और क्रिसमस मना सकेंगे." कहते हुए लिजा आंटी रो पड़ी.

"अच्छी शुरुआत के लिए इंतजार क्यों ? आज से अच्छा दिन और कौन सा होगा मम्मी, चलो आज अमन के यहां क्रिसमस मनायेंगे, क्यों अमन ठीक है न ?" एलिन ने मां के आंसू पोंछते हुए कहा.

"क्यों नहीं," अमन खुशी से उछल पड़ा.

डेविड अंकल के परिवार के साथ अमन घर पहुंचा तो किसी को विश्वास ही नहीं हो रहा था. आंखों से बहते आंसुओं ने एक दूसरे को यक़ीन दिलाया तो मन में जमा मैल खुद ही धुल गया.

सरहद की जंग हथियारों से जीती जाती है. पर 'ईगो' की जंग को जीतने के लिए ज़रूरत होती है आपसी विश्वास और स्नेह की. अमन उस मुस्तैद फ़ौजी की तरह खड़ा मुस्करा रहा था जिसे दो-दो जंग जीतने का फ़क्र हो.

ई-१, एअरलाइंस टॉवर, सिंधी कॉलोनी, पी. जी. रोड, सिकंदराबाद - ५०० ००३. (आ. प्र.)

# कब्रिस्तान और बच्चे

✍ यश मालवीय

*कब्रिस्तान में*
*पतंग उड़ाते हैं बच्चे*
*जब कट जाती है*
*एक दूसरे की पतंग*
*तो कब्रें लांघते-फलांगते*
*लूटते हैं*
*लाल-हरे-नीले सपने*
*लपेटते हैं*
*आसमान तक*
*सीढ़ी बन जाने वाली डोर*
*कितने अच्छे लगते हैं*
*मुर्दों के गांव में*
*जीवन के गीत गाते बच्चे.*

ए - १११, मेंहदौरी कॉलोनी, इलाहाबाद - २११००४

## ग़ज़ल

✍ मदन मोहन 'उपेंद्र'

नदी की ताल पर क्यों गीत गाते हो
अकेले में खड़े क्यों गुनगुनाते हो,
रहे गतिशील जीवन की डगर भी
सफ़र में इस तरह क्यों थकन लाते हो,
किसी की वक़्त कब करता प्रतीक्षा है
बीती बात पर क्यों सिर खुजाते हो,
परिंदे नापते आकाश की ऊंचाइयां जब
तब तुम ज़मीं की खाइयों में उतर जाते हो.

ए-१० शांति नगर, मथुरा २८१००१

# मैं और मेरी संघर्ष-यात्रा

✍ पं. किरण मिश्र 'अयोध्यावासी'

(बहुत बार होता है कि पाठकों से लेखक केवल अपनी रचनाओं के माध्यम से ही बात नहीं करना चाहता बल्कि सीधे पाठक के सामने अपने मन की गांठें खोलना चाहता है. लेखक और पाठक के बीच की दीवार ख़त्म करने का प्रयास है यह स्तंभ, 'आमने/सामने.' अब तक मिथिलेश्वर, बलराम, प्रो. कृष्ण कमलेश, कृष्ण कुमार चंचल, संजीव, सुनील कौशिश, डॉ. बटरोही, राजेश जैन, डॉ. अब्दुल बिस्मिल्लाह, कुंदन सिंह परिहार, अवधेश श्रीवास्तव, श्रीनाथ, राम सुरेश, विजय, विकेश निझावन, नरेंद्र निर्मोही, पुन्नीसिंह, श्याम गोविंद, प्रबोध कुमार गोविल, स्वयं प्रकाश, मणिका मोहिनी, राजकुमार गौतम, डॉ. रमेश उपाध्याय, सिद्धेश, डॉ. हरिमोहन, डॉ. दामोदर खड़से, रमेश नीलकमल, चंद्रमोहन प्रधान, डॉ. अरविंद, सुमन सरीन, फूलचंद मानव, मैत्रेयी पुष्पा, तेजेंद्र शर्मा, हरीश पाठक, जितेन ठाकुर, अशोक 'अंजुम', राजेंद्र आहुति, आलोक भट्टाचार्य, डॉ. रूपसिंह चंदेल, दिनेश चंद्र दुबे, कृष्णा अग्निहोत्री, जयनंदन, सत्यप्रकाश, संतोष श्रीवास्तव, उषा भटनागर, प्रमिला वर्मा, डॉ. गिरीश चंद्र श्रीवास्तव, प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय और सुधा अरोड़ा से आपका आमना-सामना हो चुका है. इस अंक में प्रस्तुत है पं. किरण मिश्र की आत्मरचना.)

मेरा पूरा नाम किरण प्रताप मिश्र है. मैं अपने मित्र और अग्रज अरविंद जी की आज्ञा शिरोधार्य करके अपने संघर्षों के क्षणों को शब्दों में बांधने का प्रयास कर रहा हूं. सर्वप्रथम अपने परिचय में दो शब्द लिख दूं तो जीवन की यात्रा के इस वृतांत को समझने में आसानी होगी. ईश्वर की अनुकंपा से मैं आज फिल्म क्षेत्र में गीत-लेखन विधा में कार्यरत हूं. मेरी अपनी एक ज़गह बन गयी है. ख़ासतौर से भक्ति गीतकार के रूप में स्थापित होने का सौभाग्य मुझे मिला है और यहां तक पहुंचने में जो संघर्ष हुआ है उसका एक-एक दिन, एक-एक पल मुझे याद है. शायद यही यादें मेरा मार्ग प्रशस्त करती हैं.

मेरा जन्म अयोध्या के कटरा मुहल्ले में हुआ था. शाकद्वीपीय ब्राह्मण कुल में जन्म लेने के कारण संस्कार ब्राह्मण के मिले. संस्कृत, हिंदी शिक्षा बचपन से ही गुरूदेव पाणिनि द्वारा मिली. पिताश्री हिंदी, अवधी के प्रख्यात कवि के रूप में स्थापित थे. जिनका नाम श्री दिनेश कवि है, वे मुझे काव्य लिखने के लिए सदा प्रोत्साहित करते थे. बचपन से ही कविता/गीत के लिए मन में अनुराग जग गया. पिताजी के साथ काव्य मंचों पर जाता व कवियों को सुनता और उनसे पाठनशैली सीखता रहा. उत्तर प्रदेश के कई कवियों का घर में आवागमन भी था. श्री सत्यनारायण द्विवेदी, पं. चंद्र शेखर मिश्र, श्री रूप नारायण त्रिपाठी, भारत भूषण जी आदि शीर्ष कवियों का घर में बराबर आगमन रहा. पिताश्री के देहांत के बाद भी सभी का स्नेह मुझे प्राप्त हुआ. आज भी सभी के आशीष से ही कुछ कर पा रहा हूं.

प्रारंभिक शिक्षा स्थानीय विद्यालयों में हुई. ग्रेजुएशन गोरखपुर विश्वविद्यालय व पोस्ट ग्रेजुएशन आगरा विश्वविद्यालय से किया. मेरे पिताश्री साहित्य, संगीत, कला तीनों के धनी व्यक्ति थे. मुझे उनका बहुत कुछ प्रदत्त हुआ. मैंने तीनों की साधना की कोशिश की. मुझे मेरे परिवार में कलात्मक व साहित्यिक वातावरण मिला जिससे मैं स्वर और ताल से परिचित हुआ. संगीत सभाओं में मैं पिताश्री के साथ जाता, स्वरचित गीत गाता. लोग आनंद लेते थे. मेरे पिता ने मुझे बहुत अधिक प्रोत्साहित किया. उन्हीं के प्रोत्साहन के फलस्वरूप मैंने चित्रकला में पोस्ट ग्रेजुएशन किया और फिर गोरखपुर विश्वविद्यालय में ललित कला विभाग में १९७५ में लेक्चरर हो गया. लेकिन काव्य की छटपटाहट कवि सम्मेलनों की ओर खींच ले जाती थी. सुबह नौ बजे से कक्षा में पढ़ाने के लिए जाना, रात भर कवि सम्मेलन में जागना सब एक साथ नहीं हो पाता था. सब कुछ गड़मड़ हो जाता.

विश्वविद्यालय में मेरे शिक्षकों में प्रो. डी. पी. धुलिया पेंटिंग के शिक्षक थे. वे भी मुझे बहुत प्रोत्साहित करते थे. मेरे हिंदी के शिक्षकों में डॉ. विश्वनाथ तिवारी, डॉ. जगदीश 'अतृप्त' थे. अतृप्त जी कई बार मुझे कवि सम्मेलनों में ले गये. डॉ. देवर्षि सानाढ्य जी के साथ कई आयोजनों में जाता था. मुझे मेरे गुरुओं का जो आशीष मिला वह मेरा संबल बना और मेरे परम आदरणीय देवेंद्र कुमार जी व डॉ. शंभूनाथ सिंह जी से मेरे नव

गीतों को जो प्रोत्साहन मिला उससे मैं धन्य हो गया. मेरे गीतों को सबसे ज्यादा प्रोत्साहन व प्रेरणा वीरेंद्र मिश्र जी से मुंबई में प्राप्त हुई. मुंबई में मैं सबसे पहले अगस्त १९७४ में आया था. मेरे एक मित्र थे उनको मैंने चित्रकला में पोस्ट ग्रेजुएशन करने में शैक्षणिक सहयोग दिया था. वे आई. आई. टी. पवई में चित्रकला के शिक्षक थे. एम. ए. प्रथम वर्ष में उन्हें मैंने आगरा से ही सहयोग किया था फिर जब वे फाइनल में गये तो उन्हें सहयोग देने मुझे मुंबई आना पड़ा. उन दिनों मुंबई में घूमते-घूमते मैं कई कलाकारों, गीतकारों आदि से मिला भी था. १९७५ में विश्व-विद्यालय में लेक्चरर हो जाने से फिर गोरखपुर जाना पड़ा. लेकिन वहां पर शिक्षकों और छात्रों की राजनीति अपने को रास नहीं आयी. अपने लेखन और अपनी कला पर विश्वास था कि ये मुझे कहीं भी भूखा नहीं मरने देंगे.

१९८० में फिर मुंबई आ गया. विवाह १९७३ में ही हो चुका था. पत्नी बी. एच. यू. में शोध कार्य कर रही थी. दो बच्चे भी हो गये थे. पत्नी डॉ. उषा मिश्रा एक डिग्री कॉलेज में शिक्षिका के रूप में कार्यरत थी. वह बच्चों के साथ अयोध्या में रह रही थी और मेरा संघर्ष मुंबई में ज़ारी था. लेकिन वे बड़े ही कष्ट के दिन साबित हुए. एक दिन डॉ. धर्मवीर भारती जी के दर्शन करने 'धर्मयुग' गया. भारती जी ने बड़ा स्नेह दिया. टाइम्स में ही श्री विश्वनाथ सचदेव जी ने कुछ कहानियां दीं जिनको पढ़कर उन पर चित्र बनाये जो नवभारत टाइम्स में छपे भी थे.

१९७४ से १९८० के बीच गर्मी की छुट्टियों मेरा सपरिवार मुंबई आगमन होता था. कुर्ला में श्री सरस्वती कुमार 'दीपक' जी रहते थे. कुर्ला में ही उनका एक आयोजन था जिसमे डॉ. राम मनोहर त्रिपाठी जी को काव्य पाठ करते हुए देख और सुन मैं बड़ा प्रभावित हुआ था. १९८० में गोरखपुर विश्वविद्यालय छोड़कर पूरी तरह से मुंबई का होकर जब रहने आया तो अनेक उतार-चढ़ावों के मध्य कई मित्रों ने सहयोग दिया.

दीपक जी के माध्यम से कई लोगों से मुलाकात हुई थी. पं. आर. प्रियदर्शी, श्री एस. एन. त्रिपाठी, योगेश, ललित नाग, शांति देव (आर्ट डाइरेक्टर) आदि, आदि. उसी संघर्ष काल में देवदीप के संपादक कपिल पांडेय जी मिले. ये भी मेरे संघर्ष के दिनों के भागीदार रहे. मेरी बड़ी मदद की. एक मित्र थे आर. एस. मस्ताना उन्होंने भी बड़ा सहयोग दिया था. फिर शैल चतुर्वेदी जी मिले. शैलजी से मैं आगरा से परिचित था. उनके साथ कई मंचों पर काव्य-पाठ का सौभाग्य भी मिला था. उन्हीं दिनों के मित्र कैलाश सेंगर, आलोक भट्टाचार्य, सुमन सरीन, गोपाल शर्मा, हस्तीमल 'हस्ती' आदि हैं. उन्हीं दिनों के दौरान प्रबोध कुमार गोविल, डॉ. देवेश ठाकुर, सेवासदन मनोज, डॉ. सुधाकर मिश्र, प्रो. नंदलाल पाठक जी आदि से संबंध बने. अरविंद जी के 'कथाबिंब' प्रकाशन के संघर्ष से भी उन्हीं दिनों परिचित हुआ. घटनाएं तो बहुत सारी हैं, क्या गिनाऊं और क्या छोड़ूं ? थोड़ा लिखना और ज्यादा समझने में अधिक आनंद है. विस्तार में जाऊं तो लगेगा दुखड़े रो रहा हूं. यह मेरी आदत नहीं है. प्रख्यात गीतकार वीरेंद्र मिश्र जी ने मुझे जो स्नेह और रचनाओं में नवगीतों के लिए जो आशीर्वाद प्रदान किया था वह आज भी मुझे मार्ग दिखाता है. वे मेरे आज भी बहुत करीब हैं.

मुंबई के आवासीय संकट से अधिकांश पाठक परिचित होंगे, संकट के उन दिनों में यदि मित्रों ने सहयोग न किया होता तो मेरे संघर्ष की धारा शायद आज भी ठहर नहीं सकती थी.

संघर्ष के उसी दौर में कई फिल्मों में गीत भी लिखे थे. उनमें कुछ फिल्में आयीं, कुछ नही आयीं. लेकिन उनसे अनेक लोगों से संबंध बने, कुछ से बिगड़े भी. यह सब कुछ देखा. शैल चतुर्वेदी जी के साथ तीन वर्ष रहने का अवसर मिला. उन्होंने मुझे अपने अनुज का स्नेह दिया.

एक घटना ऐसी है जिसकी अवश्य चर्चा करना चाहूंगा, तब मैं हताश होकर मुंबई से अयोध्या भाग गया था. घटना कुछ इस प्रकार है कि पवई में मैं अपने एक मित्र के यहां रह रहा था. कोई कमाई नहीं. कोई काम नहीं, कुछ फिल्मों में गीत लिखे थे, जिनका कुछ अता-पता नहीं. जेब में कहीं आने-जाने के लिए भी पैसे नहीं. भोजन का समय होता तो भी झिझक के कारण अपने मित्र को कह देता कि खा कर आया हूं. पूरी फाकामस्ती का जीवन हो गया था. शरीर से भी कमजोर होता जा रहा था. एक दिन नवभारत टाइम्स में मलाड में एक पेन्टर की आवश्यकता का विज्ञापन छपा देखा, और ऐन केन प्रकारेण मैं वहां पहुंच गया. पवई से मालाड तक की पद-यात्रा हुई लेकिन हिम्मत नहीं हारी. दो दिन से भूखा था. पहुंचने पर उसने कहा कि आपको एक तस्वीर बनाकर दिखाना होगा. मैंने आयल पेंटिंग बनायी. पांच घंटे लगे और तस्वीर बन गयी. वह बहुत खुश हुआ. उसने कहा कि मैं एक पेंटिंग के बीस रुपये दूंगा. मैंने कहा आप प्रतिदिन मुझे ये बीस रुपये मेरे कार्य के बाद दे देंगे तो बड़ी कृपा होगी. उसने उस दिन बीस रुपये दिये. मेरे मन में उसी दिन आ गया था कि अब किसी तरह किराये भर का पैसा इकट्ठा करो और भाग चलो घर. यहां कुछ नहीं होगा. और उस दिन बीस रुपये पाते ही फौरन किसी होटल में पांच रुपये की थाली मंगायी, खायी और मात्र दस दिन काम किया. किराये भर का पैसा मिल गया. मैं बैक टु पवेलियन हो गया. मुंबई कभी न आने के लिए.

लेकिन किस्मत को परीक्षा लेनी ही थी. एक दिन मुंबई से एक टेलिग्राम गया, एक फिल्म के गाने की रिकॉर्डिंग का. और एक बार फिर मैं मुंबई लौटा. तब से ऐसा लगने लगा कि जैसे मुंबई की संघर्षीय परीक्षा में पास होने का कोई सर्टिफिकेट मिल

## पं. किरण मिश्र के कुछ मुक्तक

(१)

है अपार सामर्थ्य प्रेम में
दुग्ध सजल छन जाता है ।
ज्यों-ज्यों पीर रुलाये मन को
प्रेम बहुत मुस्काता है ।।
मन के बोझ को हल्का करने
और दबाने करुणा कोर
हृदय पे पत्थर रखते-रखते
ताज़महल बन जाता है ।।

(२)

चंदा रूप बनाकर निकला
नारि कोई मतवाली का ।
लगा देखने जब मैं उसको
चित बिगड़ा घरवाली का ।।
मुझसे बोली बोलो तुमको
क्या दिखता है उसमें जी-
मैं बोला मुझको तो चेहरा
दिखता अपनी साली का ।।

(३)

सरिता की लहरों में डाले
चरण पहाड़ अड़ा है ।
चमके चंदा की प्रतिछाया
धार में श्वेत घड़ा है
नभ में चंदा जल में चंदा
बीच पहाड़ी ऐसे-
जैसे दो प्रेमी के बीच
खलनायक आन खड़ा है ।।

('चंद्रबिंब' से)

तबसे एक नया सफर शुरू हुआ. पैसा भी मिलने लगा था, अतः परिवार-बच्चे सब मुंबई आ गये और गुज़ारे लायक एक छोटे घर गया. मेरा संघर्ष तब पूरी तरह फलीभूत हुआ जब १९८६ में वीनस रिकॉर्ड कंपनी के एलबम लिखने को आये. छोटे-मोटे रिकॉर्ड तो एच. एम. वी., यूनिवर्सल, म्यूजिक इंडिया आदि कंपनियों के किये थे लेकिन वीनस से धार्मिक कैसेट जो लिखे वे बिक्री की दृष्टि से सुपरहिट की कोटि में पहुंच गये और से इतना हो गया कि गाड़ी चलने लगी. बच्चों की शिक्षा और उनका भरण-पोषण सब सुव्यवस्थित हो गया. कई ट्राफियां और पुरस्कार मिले जिनमें १९९४ में सुमू अवार्ड से बहुत फायदा हुआ. आज फिल्म इंडस्ट्री पंडित जी कहकर सम्मान देती है. अच्छा लगता है. किसे नहीं अच्छा लगेगा ! कई विद्वानों के साथ कार्य करने का अवसर भी मिलता है. साहित्यिक लेखन बराबर चल रहा है. नव गीतों पर विशेष कार्य चल रहा है. "चुबक है आदमी" पहला संकलन आया परिदृश्य प्रकाशन से. जिसे मारवाड़ी सम्मेलन से घनश्यामदास सराफ साहित्य पुरस्कार प्राप्त हुआ. धार्मिक साहित्य प्रकाशन ने दूसरी पुस्तक 'मजीरा' छाप कर मेरे चर्चित ओर प्रसिद्ध गायकों द्वारा गाये हुए भजनों का संग्रह कराया.

तीसरी पुस्तक अभी-अभी आयी है - "चंद्रबिंब" परिदृश्य प्रकाशन से. यह एक प्रबंध की कोटि में है. यह चंद्रमा को विषय बनाकर एक सौ मुक्तकों का संग्रह है.

चौथे संग्रह "कंपन करती धरती" पर कार्य हो रहा है. मित्रो गुरुजनों का सहयोग हुआ तो आगे कई स्तरीय कार्य सिद्ध होंगे.

*'प्यारा है भवन अति आकर्षण,*
*आण्विक सितारे जड़े हुए ।*
*कंपन करती धरती पर हम,*
*जीवन के महल हैं खड़े हुए ।।*

('कंपन करती धरती' से)

३०३, ए-विंग, दया-सरिता बिल्डिंग,
गोकुल धाम, गोरेगांव (पू.), मुंबई ४०० ०६३

## 'कथाबिंब' के मूल्य में वृद्धि

हमारी यथासंभव कोशिश यही रहती है कि प्रकाशन-वृद्धि को पाठकों पर न लादा जाये. लेकिन पिछले अंक से ही पत्रिका को डाक से भेजना महंगा हो गया है, इसके साथ ही और भी कई मदों में वढ़ोतरी हुई है. अप्रैल-जून २००१ अंक से 'कथाबिंब' शुल्क इस प्रकार होगा :-

*एक प्रति : १५ रुपये*
*वार्षिक शुल्क : ५० रुपये*
*त्रैवार्षिक शुल्क : १२५ रुपये*
*आजीवन शुल्क : ५०० रुपये*

*जिन व्यक्तियों का त्रैवार्षिक शुल्क जारी है उन्हें शुल्क की समाप्ति तक पत्रिका पुरानी दर से ही मिलती रहेगी. यदि आपका शुल्क समाप्त होगया है तो शीघ्र नवीनीकरण करा लें.*

# कृति पर अंतिम होता है काल का निर्णय

- हिमांशु जोशी

('कथाबिंब' के लिए हिमांशु जोशी से बलराम की भेंटवार्ता)

*[कहीं न होते हुए भी सब कहीं होना और किसी का भी न होते हुए सबका होना अगर एक सच्चे और अच्छे लेखक की पहचान हो तो प्रख्यात कथाकार-पत्रकार हिमांशु जोशी इस पहचान पर एकदम खरे उतरते हैं. ४ मई, १९३४ को उत्तरांचल में जन्मे हिमांशु जोशी ने १९५४ से दिल्ली में रहते हुए मित्र तो हजारों बनाये, लेकिन दुश्मन शायद एक भी नहीं. इनके पाठकों की संख्या लाखों में होगी, लेकिन उन आलोचकों की संख्या शायद उंगलियों पर गिनी जाने लायक ही हो, जिन्होंने इनके विपुल लेखन की गहन-गंभीर जांच-पड़ताल ईमानदारी से की हो. 'अरण्य', 'महासागर', 'छाया मत छूना मन', 'कगार की आग', 'समय साक्षी है', 'तुम्हारे लिए' तथा 'सुराज' जैसे उपन्यास लिखनेवाले हिमांशु जोशी डेढ़ सौ से अधिक कहानियां लिख चुके हैं, जो ग्यारह कहानी संग्रहों में संग्रहीत हैं. तीन कविता संग्रह, दो यात्रा वृत्तांत तथा दस अन्य किताबें लिखनेवाले परम घुमक्कड़ों में शुमार हो चुके हिमांशु जोशी उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, आगरा तथा राजभाषा परिषद, बिहार से पुरस्कृत हो चुके हैं और दुनिया की कोई बीस भाषाओं में इनकी रचनाओं के अनुवाद छपे हैं.*

*कानपुर से दिल्ली आने पर जिन कुछ अग्रजों से आत्मीयता हुई, उनमें हिमांशु जोशी का नाम प्रमुख है. नेताजी नगर और फिर मयूर विहार वाले दिनों में भी वे हमारे लंबे समय के पड़ोसी बने तो उनसे दुनिया-ज़हान की बातें प्रायः होती रहीं. फिर एक लंबी बातचीत भी हुई. कई किस्तों में हुई उनसे यह बातचीत, उम्मीद है कि सुधी पाठकों को बहुत कुछ ऐसा बतायेगी, जो इसके पहले वे उनके बारे में जानते नहीं थे. २५ वर्ष तक 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' में पत्रकारिता करने के बाद लेखन के लिए नौकरी छोड़ देने का निर्णय लेना कितना कठिन रहा होगा, यह बात वे ही जान सकते हैं, जो ऐसा निर्णय लेने की बात सोचते तो खूब रहे, पर छोड़ने का साहस प्रायः कर नहीं पाये.]*

**● आपकी पहली किताब कब और कैसे छपी ? उस पर साहित्य-समाज की प्रतिक्रिया कैसी रही ?**

लिखने और छपने के मामले में मैं हमेशा सौभाग्यशाली रहा हूं. जब जो लिखा, वह पूरे मान के साथ छपा. मैंने सन् १९६२-६३ में अपना पहला उपन्यास 'अरण्य' लिखा. लिख तो लिया, लेकिन अर्से तक दुविधा में रहा कि कुछ बना भी है या नहीं !

एक दिन 'टी हाउस' में बैठे थे, शाम को. बातों ही बातों में मोहन राकेश से ज़िक्र किया. वे कुछ अचरज से बोले, 'उपन्यास पूरा भी कर लिया ?'

'हां, मैंने उत्तर दिया तो उन्होंने पूछा, 'कितना बड़ा है ?'

'यही लगभग डेढ़ सौ पृष्ठों का,' बाद में एक दिन पांडुलिपि मैंने उन्हें पढ़ने के लिए दी. राय जानने के लिए कि कुछ बन भी पाया है या नहीं ! राकेशजी बड़े मनमौजी स्वभाव के थे. पांडुलिपि ले गये और कुछ अर्से बाद एक दिन बताया कि उन्होंने पढ़ ली है. किसी दिन घर आकर ले जाना.

वे उन दिनों कीर्ति नगर में रहते थे. पुष्पाजी से नयी-नयी शादी हुई थी. निश्चित समय पर पहुंचा तो बड़े स्नेह से मिले. पुष्पाजी से परिचय कराया. उपन्यास का ज़िक्र आया तो बोले, 'भई, मुझे तो बहुत अच्छा लगा. कुछ अंश तो लाज़वाब हैं.'

उपन्यास मैं ले आया. उन दिनों प्रकाशन की थोड़ी बहुत समस्या थी. तब इतने प्रकाशक कहां थे. दो-चार जो थे भी, उनके यहां पहले से ही लंबी कतार रहती थी. अन्य लेखकीय कार्यों में व्यस्त रहने के कारण टाइप की गयी पांडुलिपि फिर यों ही अर्से तक पड़ी रही. एक दिन जैनेंद्रजी से बातों ही बातों में उसका कहीं कुछ उल्लेख आया तो बोले, 'किसी दिन ले आना. हम भी देखें, कैसा लिखा है ?' और एक दिन मैं जैनेंद्रजी को अपना वह उपन्यास दे आया. अभी पांडुलिपि दिये सप्ताह भी न बीता था कि जैनेंद्रजी का पोस्टकार्ड मिला. उन्होंने लिखा था : उपन्यास आद्योपांत पढ़ गया. बहुत रुचिकर लगा, परिपक्व भी. बतलाओ, इसके लिए मैं क्या कर सकता हूं ? जैनेंद्रजी या राकेशजी को उपन्यास मात्र उनकी राय जानने के लिए दिया था, उस पर कुछ लिखने के लिए नहीं. आज तक मैंने अपनी किसी पुस्तक की कोई भूमिका किसी से लिखवाई नहीं, न सम्मति ही किसी की प्रकाशित की. यह सदैव मेरे स्वाभिमान के प्रतिकूल रहा.

यों तो लिखने का सिलसिला अर्से से चल रहा था, परंतु पुस्तक रूप में अब तब कोई रचना आ नहीं पायी थी. मेरे पास 'अरण्य' के अलावा एक कहानी संग्रह भी तैयार था. कहानियां 'धर्मयुग' तथा 'ज्ञानोदय' आदि में प्रकाशित हो चुकी थीं. वह वर्ष था १९६५, जब दोनों पुस्तकें एक साथ प्रकाशित हुईं.

'अंततः' पूर्वोदय प्रकाशन से छपा और 'अरण्य' एस. चांद से. तब दो हज़ार पुस्तकों का एक संस्करण होता था. एस. चांद ने तो उपन्यास छाप दिया था, अपने प्रकाशन के क्रम में, परंतु पूर्वोदय प्रकाशन, एक तो जैनेंद्रजी के अतिरिक्त किसी की पुस्तकें छापता नहीं था, दूसरा उसके अपने साधन तो कुछ थे ही नहीं. मात्र उम्मीद यह थी कि यदि 'केंद्रीय हिंदी निदेशालय' अन्य पुस्तकों

के साथ 'बल्क' में इसकी भी कुछ प्रतियां खरीद लेगा तो संभवतः कुछ लागत निकल आयेगी, किंतु अंत में पता चला कि निदेशालय के उपनिदेशक डॉ. सुरेश अवस्थी के इस नोट से इसे खरीदने ने वंचित कर दिया गया कि पुस्तक साधारण है, ख़रीदने योग्य नहीं. साहित्य की राजनीति से मैं परिचित था. अतः इसे मैंने सहज भाव से लिया, परंतु तभी एक समारोह में संयोग में केंद्र सरकार के तत्कालीन उपशिक्षामंत्री भक्तदर्शन से किन्हीं मित्र ने परिचय कराया. भक्तदर्शनजी लपककर मिले. बोले, "भई, लाज़वाब लिखते हो ! अभी परसों मैंने आपका कहानी संग्रह 'अंततः' पूरा किया. कुछ कहानियां तो अविस्मरणीय हैं..."

'हिंदी-निदेशालय' से मैं कुछ-कुछ जला-भुना तो था ही. किंचित आक्रोश से मैंने कहा, 'आपका हिंदी निदेशालय' इसे पढ़ने योग्य नहीं समझता, आप ऐसा कहते हैं...' वह नेहरू का जमाना था. उपमंत्री की भी बड़ी हैसियत थी. निदेशालय शायद उन्हीं के अंतर्गत था. बाद में पता चला कि उन्होंने फ़ाइल मंगवाई. पूरे मामले की जांच की और स्वयं पुस्तक की ख़रीद के आदेश दिये. यशपाल ने भी इसे पढ़ा और अपनी विस्तृत प्रतिक्रिया लिखकर भेजी. समीक्षाएं भी यत्र-तत्र छपीं. 'कल्पना' में प्रयोग शुक्ल की समीक्षा छपी थी. प्रभाकर माचवे ने भी विस्तार से 'ज्ञानोदय' में लिखा तथा अन्य पत्र-पत्रिकाओं में भी अनेक समीक्षकों ने अपने-अपने ढंग से उसकी समीक्षाएं कीं. विष्णु प्रभाकर ने भी एक पत्रिका में समीक्षा के रूप में अपने विचार व्यक्त किये. कुल मिलाकर आरंभ अच्छा लगा.

**● किस पहली रचना और पुस्तक को पुरस्कार या सम्मान मिला ? पहली बार पुरस्कार राशि मिलने पर कैसा लगा ?**

उन दिनों 'दिल्ली पब्लिक लायब्रेरी' साहित्यिक गोष्ठियों के अतिरिक्त प्रति वर्ष 'कहानी-प्रतियोगिता' का भी आयोजन बड़े पैमाने पर किया करती थी. उस वर्ष की प्रतियोगिता के लिए मैंने भी एक कहानी 'अंततः' यों ही भेज दी. इस भीड़ में पुरस्कार मिलने की कोई उम्मीद तो थी नहीं. दिल्ली में अभी नया-नया था. किसी से कोई विशेष परिचय भी नहीं. मुझसे बड़े-बड़े दिग्गज पहले से ही मौजूद थे यहां पर, पर मेरे आश्चर्य की सीमा न रही, जब प्रथम पुरस्कार विजेता के रूप में मेरा नाम छपा दिखा. सम्मान-राशि पुस्तकों के रूप में मिलती थी. निर्धारित मूल्य की पुस्तकें खरीदने के लिए सूची लेखक से मांगी जाती थी.

एक विशेष समारोह में मोरारजी देसाई ने पुरस्कारों का वितरण किया. दूसरे वर्ष की प्रतियोगिता में भी प्रथम पुरस्कार मेरी ही कहानी 'आदमी : जमाने का' को मिला. तीसरे वर्ष मैंने जानबूझ कर भाग नहीं लिया. 'अंततः' नाम की मेरी यही कहानी 'स्वाधीनता के पश्चात् हिंदी की श्रेष्ठ कहानियां' संकलन में भी आयी. और इसी नाम से १९६५ में मेरा पहला कहानी संग्रह 'अंततः' प्रकाशित हुआ. 'अरण्य' के छपने पर भी प्रतिक्रियाएं ठीक ही रहीं. तब आंचलिक उपन्यासों का दौर शुरू हुआ. 'उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान' से 'अरण्य' को उस वर्ष के 'प्रेमचंद पुरस्कार' से सम्मानित किया गया. तब इसकी राशि थी, मात्र पांच सौ रुपये. उसमें केवल सवा सौ रुपये नक़द मिले शेष के लिए बारह साल का बॉण्ड !

उस वर्ष के सम्मानित लेखकों की सूची में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा कमलेश्वर आदि के नाम भी थे. उनको भी इतनी ही राशि मिली थी.

**● आपकी किताबों तथा अन्य रचनाओं पर आलोचकों की कृपा कृपणता की सीमा को छूती रही है. इस पर भी कभी विचार किया ?**

मैंने इस प्रश्न पर इस तरह कभी सोचा नहीं. क्या मिला, क्या नहीं, इसे भविष्य पर छोड़ देना अधिक श्रेयस्कर होगा. लिखना एक लंबा संघर्ष है, जिसका समापन देहावसान पर भी नहीं होता, बल्कि आगे देर तक, दूर तक चलता है. देर-सवेर लेखक को उसका प्राप्य अवश्य प्राप्त होता है. हां, कभी-कभी अपवाद के रूप में कुछ अनहोनी भी हो सकती है. अतीत के कई उदाहरण हमारे सामने हैं. यह सच है कि मैं उन गिने-चुने अति सौभाग्यशाली लेखकों में अपने को नहीं पाता, जो मात्र आठ-दस कहानियां या एक-दो उपन्यास लिख़कर ही अमरत्व को प्राप्त हो गये. आलोचकों की अकूत अनुकंपा से उन्हें इतना मिला कि भविष्य में उन्हें कुछ और लिखने की आवश्यकता ही अनुभव नहीं हुई. जब कभी मैं मुड़कर पीछे देखता हूं तो लगता है कि अपने पांवों के बल पर आगे बढ़ने का भी अपना एक सुख है, आत्म संतोष ! शायद किसी भी लेखक के लिए इससे बड़ी उपलब्धि और क्या हो सकती है कि वह अपना मार्ग, अपनी क्षमता से स्वयं निर्धारित करे. राजपथ पर चलनेवाले कभी कल्पना भी नहीं कर सकते कि अपने नाखूनों से चट्टानें खुरच-खुरचकर अपना मार्ग स्वयं बनाने का सौभाग्य कितना बड़ा होता है ! मुझे यह सौभाग्य मिला है, शायद इसीलिए मुझमें इतना आत्मविश्वास है. अकेले ही सारी दुनिया से संघर्ष कर लेने की क्षमता !

यों सही मूल्यांकन न होना भी कभी-कभी बहुत बड़े मूल्यांकन का कारण बनता है. एक बार मैंने बांग्ला कथाशिल्पी विमल मित्र से बातों-बातों में ही पूछा, 'विमल दा, आपके प्रति बांग्ला आलोचकों का जो रुख़ रहा है, उससे कभी आपको निराशा नहीं होती ?' विमल दा क्षण भर सोचते रहे, फिर अम्लान हंसी हंसते हुए बोले, 'किंचित भी नहीं. मेरे आलोचक मेरे सबसे बड़े शुभेच्छु रहे हैं. मैंने जब अपना पहला उपन्यास 'साहब, बीबी और गुलाम' लिखा तो उन्होंने कहा कि अरे, यह भी कोई उपन्यास है ! किसी सामाजिक समस्या पर लिखकर दिखलायें तो हम भी कहें ! मैंने तब 'मुज़रिम हाज़िर है', 'इकाई, दहाई, सैकड़ा' आदि अनेक उपन्यास लिखे. मैं हर बार प्रयत्न करता रहा हूं कि मेरा आनेवाला उपन्यास पिछले से हर अर्थ में श्रेष्ठ हो. इस क्रम में मेरा लेखन निरंतर निखरता रहा. सच कहता हूं, उन्हीं की बदौलत आज मैं यहां तक पहुंच पाया.'

विमल दा के देहावसान पर मैंने लिखा था : 'आज बयासी वर्ष की अवस्था में विमल मित्र का निधन हो गया. उनके कुल उपन्यासों की संख्या भी ठीक बयासी ही है. रवींद्रनाथ ठकुर, शरच्चंद्र तथा प्रेमचंद के पश्चात् जो चौथा लेखक संपूर्ण भारत में सबसे अधिक पढ़ा गया, वह विमल दा ही थे.'

लेखक का संघर्ष सतत चलता रहे और वह दिन-प्रतिदिन अपना परिष्कार करता हुआ अच्छा, और अच्छा लिखता रहे, इससे बड़ी बात और क्या हो सकती है ? कुछ आलोचकों के अनुसार हिंदी का पहला राजनीतिक उपन्यास 'समय साक्षी है' था, जिसके अब तक अनेक संस्करण हुए, अनेक भाषाओं में रूपांतर भी, परंतु लोग कहते हैं कि उसका सही मूल्यांकन नहीं हुआ. अतः जितना चर्चित होना चाहिए था, नहीं हो पाया. उसी तरह 'कगार की आग' रहा. यद्यपि उसके अनेक संस्करण हुए. उस पर आधारित नाटक का हिंदी तथा कुमाऊंनी में कई बार मंचन हुआ और अभी भी यदा-कदा होता रहता है. 'आकाशवाणी' से उस पर रेडियो नाटक प्रसारित हुआ. तेरह किस्तों में धारावाहिक रेडियो रूपांतर हुआ. प्रज्ञाचक्षुओं के लिए ब्रेल में छपा. आस्ट्रेलिया के कैनबरा विश्वविद्यालय में पाठ्यक्रम में रहा. उड़िया, मराठी, बांग्ला, डोगरी, कोंकणी आदि के अतिरिक्त नेपाली, बर्मी, चीनी, नार्वेजियन, अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं में भी उसके अनुवाद छपे. दिल्ली विश्वविद्यालय में उस पर शोध हुआ, परंतु इतना सब होने के बावजूद आलोचकों ने उसके साथ पूरा-पूरा न्याय नहीं किया.

सच पूछिए तो मैं यही कहूंगा कि इन स्थितियों ने ही मुझे बल दिया है. और अधिक निष्ठा के साथ निरंतर लिखने के लिए प्रेरित किया है. अतिरिक्त सराहना मिलती या अतिरिक्त चर्चा होती तो संभवतः मेरे लिए वह अधिक हितकर न रह पाती. वास्तव में इन बाह्य बातों का किसी भी लेखक पर ज़्यादा प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए. वस्तुतः हर लेखक जानता है कि वह कहां पर खड़ा है, किस ओर उसे जाना है, उसका क्या लक्ष्य है, जो कुछ वह लिख रहा है, समकालीन लेखन में वह कहां पर है ? लेखक की स्थिति विडंबनापूर्ण तब होती है, जब वह अपना आकलन कहीं ग़लत कर बैठता है और फिर कालांतर में इन भ्रमों में जीने की, निरंतर जीते रहने की उसकी नियति हो जाती है. मैं अपने बारे में सदैव निश्चिंत रहा हू. मुझे पता है कि मेरी दिशा कौन-सी है और अंततोगत्वा मुझे कहां पहुंचना है ? कुछ पूर्वाग्रही आलोचकों की अपनी सोच हो सकती है, अपनी सीमाएं, परंतु प्रबुद्ध पाठक उससे कभी भ्रमित नहीं होता. कृति पर काल का निर्णय ही अंतिम होता है और यह चरम सत्य हमें बिसराना नहीं चाहिए कि भले ही वादों के कितने ही विवाद हों, परंतु अंत में विजय 'कृति' की ही होती है. वही समय की कसौटी पर चिरंतन मूल्यांकन का सही आधार बनती है. कहीं-कहीं, कभी-कभी किंचित उपेक्षा भी ऊर्जा देती है. लेखक को निरंतर सचेत बनाये रखती है कि वह अधिक से अधिक परिमार्जन के साथ लिखता रहे. ४५ वर्ष पूर्व जो यात्रा आरंभ की थी, वह अभी तक अबाध गति से चल रही है. पाठकों का अपार स्नेह मिला है मुझे, अनेक आलोचकों का भी. जहां कई लेखकों के सामने एक संस्करण की समाप्ति के बाद उसके पुनर्मुद्रण की समस्या रहती है, वहां शायद ही मेरी कोई पुस्तक हो, जिसके आठ-आठ, दस-दस संस्करण न हुए हों ! इस सौभाग्य एवं स्नेह को क्या कहूं ? कैसे कहूं कि मेरी उपेक्षा हुई है.

**● पाठकों के बीच आपने इतना विशिष्ट स्थान बनाया, परंतु आलोचना के क्षेत्र में उतना सब क्यों नहीं दिखता ? हो सकता है कि यह मेरी अल्पज्ञता हो, जो सच न हो !**

मैं वर्षों तक सक्रिय पत्रकारिता में रहा और लेखन के क्षेत्र में भी लगभग उतना ही क्रियाशील ! जो लिखा गया, वह पूरे मान के साथ छपा, हिंदी की प्रायः सभी प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में. कालांतर में अग्रणी प्रकाशकों द्वारा वह पुस्तक रूप में भी प्रकाशित किया गया. अनेक समीक्षकों द्वारा उसकी समालोचनाएं भी यत्र-तत्र होती रहीं, पर इस पक्ष को मैंने कभी गंभीरता से लिया नहीं. आलोचना-समालोचना के प्रति अधिक आग्रही होना या जोड़-तोड़ करना मुझे लेखकीय गरिमा के विरुद्ध लगता है. लिखने के पश्चात् लेखक का कार्य एक तरह से पूरा हो जाता है. और यदि रचना अच्छी हो तो देर-सवेर उसका मूल्यांकन भी हो ही जाता है. शायद मेरी इसी प्रवृत्ति के परिणाम की ओर आप इंगित कर रहे हैं.

आलोचक यदि सही अर्थों में आलोचक है तो वह कहीं द्रष्टा भी होता है और न्याय की, ईमानदारी की प्रतिमूर्ति भी, लेकिन जब उसकी न्यायप्रियता संदिग्ध हो जाती है तो वह आम आदमी की अपेक्षा कहीं अधिक उपेक्षा का पात्र बन जाता है. जिन आलोचकों ने साहित्य में ऐसे 'प्रतिमान' स्थापित किये. आज वे वास्तव में कहा हैं, कल कहां रहेंगे ? साहित्य साधना है, आराधना. इसमें असत्य अधिक असें तक नहीं चलता. जहा तक मेरा प्रश्न है, न मुझमें किसी किस्म की निराशा है, न किंचित कुंठा ही.

साहित्य लंबी लड़ाई है, इसलिए थोड़े समय में ही निर्णय ले लेना उचित नहीं. आलोचकों और आलोचना से वे लोग घबराते हैं, जिनमें आत्मविश्वास की कमी होती है. आलोचकों की उपेक्षा की बात आपने बार-बार कही है. अनेक विश्वविद्यालयों में मेरे साहित्य पर शोध हुए हैं. पाठ्यक्रम में भी अनेक ज़गह रचनाएं लगी हैं. लगभग सभी भारतीय भाषाओं में रचनाओं के अनुवाद हुए हैं. विदेश भाषाओं में भी कम नहीं हुए. अपना एक विशेष पाठक वर्ग है मेरा. अब इससे अधिक एक लेखक को और क्या चाहिए ? फिर अभी तो मुझे बहुत लिखना है, मूल्यांकन या आलोचना के प्रश्न पर उलझने के लिए समय कहां ? ये तो बाद की बातें हैं, लेखक के चले जाने के बाद की.

**● यह सही है कि पाठकों के बीच आप बहुत पसंद किये गये, देश-विदेश में सब ज़गह. मूल्यांकन भी एक प्रकार से कम नहीं हुआ, पर एक लेखक के रूप में आप स्वयं को कितना संतुष्ट पाते हैं ?**

असंतुष्टि का कोई कारण मुझे नहीं दिखता है. लिखना एक प्रकार की तपश्चर्या है. उसी भाव से इसे लेना चाहिए, लाभ-हानि की दृष्टि से नहीं. मुझे अपने पाठकों का अपार स्नेह मिला है. यह किसी भी लेखक के लिए कम सौभाग्य की बात नहीं. हां, जब-जब मैं अपने पाठकों के प्रति सोचता हूं, गंभीरता से विचार करता हूं तो अवश्य इस बात का पश्चाताप होता है कि काश ! मैं लिखने के लिए कुछ समय और निकाल पाता ! कुछ और लिख लेता ! कभी-कभी ऐसा भी एहसास होता है कि बहुत-सा समय अन्य कार्यों में खप गया, उसे भी यदि लेखन में ही लगा पाता तो कितना अच्छा रहता ? समय अब अधिक नहीं. अतः समय के प्रति एक प्रकार की कृपणता का भाव भी बना रहता है.

**● पत्रकारिता एवं रचनात्मक लेखन को परस्पर विरोधी बतलाया जाता रहा है, जबकि आप इन दोनों के बीचोंबीच धार में खड़े रहे ! इस द्वंद को आपने किस तरह से झेला ?**

पत्रकारिता और लेखन वास्तव में दो अलग-अलग विधाएं हैं, समान लगने पर भी परस्पर एक दूसरे के विपरीत. पत्रकारिता के लिए एक विशेष तरह की मानसिकता चाहिए. उसकी आवश्यकताएं और प्राथमिकताएं कुछ और हैं, जबकि लेखन के लिए एक दूसरे धरातल पर जीने की अनिवार्यता है. मेरे साथ एक विचित्र बात यह रही कि मेरी लेखन में जितनी रुचि रही, पत्रकारिता में भी उससे कम नहीं. मेरी रुचियों का दायरा व्यापक होने का लाभ मुझे बहुत मिला, यों हानियां भी कम नहीं हुईं. फिल्मों के प्रति मेरा जितना गहरा रुझान है, पुरातत्व में उससे कम नहीं. इतिहास जितना लुभाता है, विज्ञान उससे कहीं अधिक. इसी तरह अन्य विधाएं भी हैं. पत्रकारिता का दायित्व उसी निष्ठा से निभाता रहा, जिस अटूट आस्था से लेखन का. इसलिए दोनों विपरीत धाराओं के बीच सरलता से सामंजस्य स्थापित कर सका, पर इस सबके बावजूद सच पूछा जाये तो मेरी प्राथमिकता रचनात्मक लेखन ही रहा, लेकिन आजीविका के लिए कुछ तो करना ही था. अतः पत्रकारिता का सहारा लिया, परंतु इसे कभी दोयम दर्जे का मानकर नहीं.

उम्र का अधिकांश भाग इन्हीं दो पाटों के बीच स्वयं को पीसने में चला गया. इत्ती उम्र बीत गयी, पहाड़ में घर होने के बावजूद कभी परिवार के साथ पहाड़ों की सैर करने के लिए गये हों, मुझे याद नहीं. बच्चों के साथ कभी किसी पारिवारिक समारोह में शामिल होने के लिए किसी अन्य शहर में जाने का समय निकाल पाये हों, ऐसा भी कोई अवसर याद नहीं आता. सारी उम्र निरंतर दौड़ने-भागने में ही व्यतीत हो गयी. यह सच है कि कुछ पाने के लिए कुछ खोना भी पड़ता है. जीवन भर यही सोचता रहा कि जैसे ही स्वतंत्र होकर, मात्र लिखने के सहारे जीने की शक्ति आ जायेगी, पत्रकारिता छोड़ दूंगा. वह समय भी एक दिन आया अवश्य, परंतु तब तक सांझ के साये बहुत लंबे हो आये थे. फिर भी अफ़सोस नहीं है.

हर चीज़ के दो पहलू होते हैं. पत्रकारिता ने भी कम नहीं दिया मुझे. इतने अनुभव, इतनी अनुभूतियां ! दुनिया को इतने निकट से देखने का अवसर, यह किस महत्वपूर्ण उपलब्धि से कम रहा. लेखन को इतना व्यापक दायरा इसी से मिला. लेखक कोई अलौकिक वस्तु नहीं. क्या इन्हीं व्यर्थ समझी जाने वाली अनुभूतियों एवं अनुभवों से मेरे व्यक्तित्व को ही नहीं, लेखन को भी इतने आयाम नहीं मिले ? मेरी धारणा है कि संसार में कुछ भी व्यर्थ नहीं होता. हां, लेखक में दृष्टि है तो वह कुछ नहीं से भी सब कुछ नहीं भी सही, तो भी बहुत कुछ अवश्य प्राप्त कर सकता है. इसलिए लेखक अपनी क्षमता के बल पर उन अनुभवों एवं अनुभूतियों का उपयोग अपने सर्जनात्मक कार्यों में कर सकता है. सच तो यह है कि जीवन में कहीं किसी से कोई प्रतियोगिता नहीं होती. व्यापक अर्थों में सब परस्पर विरोधी होते हुए भी कहीं न कहीं एक दूसरे के पूरक भी होते हैं.

**● नौकरी के साथ रचनात्मक लेखन में कोई व्यवधान महसूस करते रहे ? लेखन के लिए नौकरी छोड़े अब काफ़ी अर्सा हो गया. अपने इस निर्णय को लेकर आप क्या सोचते हैं ?**

मेरे हिसाब से लिखना चौबीस घंटे के दिन-रात में पूरे पच्चीस घंटे का काम है. भारत में, विशेषतः हिंदी में प्रायः यह प्रवृत्ति आसानी से देखने को मिलती है कि अधिकांश लेखक इसे 'पार्ट टाइम जॉब' की तरह लेते हैं. इसलिए उनके लेखन में न तो उतनी गुणवत्ता आ पाती है, और न उतनी व्यापकता ही. विश्व के अधिकांश बड़े रचनाकारों ने मात्रा में बहुत लिखा है और गुणवत्ता में भी. यदि घर के पिछवाड़े में, बित्ते भर की क्यारियों में खेती करेंगे तो हारवेस्टर तो नहीं लगा पायेंगे ! उस मुट्ठी भर उपज का लाभ भी आपको मुट्ठी भर ही मिलेगा ! किसी रचनाकार ने जीवन भर कुल मिलाकर जब लिखा ही कम है तो उसका आकलन भी तो उसी के अनुरूप ही होगा. जीवन में एक ही आकांक्षा रही मेरी कि मैं लिखूं, खूब लिखूं और एक लेखक की ज़िंदगी जिऊं. तोल्स्तोय को मैंने चित्रों के माध्यम से देखा था. सच, पूरी निष्ठा से एक लेखकीय-जीवन जीना, कितना बड़ा वरदान है !

१९६५ में किसी काम से लखनऊ गया था. संयोगवश महानगर के उसी क्षेत्र में रुका, जिसके पास यशपाल का अपना घर था, नया-नया बना छोटा-सा बंगला ! सुबह उनसे मिलने गया तो देखा कि वे घर के बाहर लॉन में, बेंत की कुर्सियां लगाये, जाड़ों की हल्की धूप में बैठे कॉफी पी रहे हैं. आज इतने वर्ष हो गये, वह दृश्य मेरी आंखों में ज्यों का त्यों जीवित है. इसी तरह की ज़िंदगी हो, कहीं ऐसा ही मेरा सपना भी था. जब से पत्रकारिता आरंभ की, तभी से मेरी आकांक्षा थी कि वह दिन कब आ पायेगा, जब मैं एक लेखक का जीवन लेखक की तरह जी पाऊंगा ! लगभग पच्चीस वर्ष तक इस क्षण की प्रतीक्षा करता रहा. अंत में १९९३ के आरंभ में जब 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' बंद हो गया और नियुक्ति

स्वतः दैनिक हिंदुस्तान में हो गयी तो सहसा मुझे लगा कि वह समय अब आ गया है. अब अगर, इसी क्षण नौकरी नहीं छोड़ी तो फिर अंत तक नहीं छूट पायेगी.

मैंने उसी समय त्यागपत्र दे दिया. कहा कि परसों पहली मई है, मैं कार्यालय नहीं आऊंगा. व्यवस्थापक महोदय ने कहा कि बिना नोटिस के त्यागपत्र देने में आपको लगभग सत्तर हजार की हानि होगी. मुझे लगा कि मेरे जीवन के इन बहुमूल्य क्षणों के मोल से अधिक नहीं है सत्तर हजार की राशि ! और फिर तीसरे दिन से कार्यालय नहीं गया. सचमुच वह मेरा 'मुक्ति-दिवस' था. लोग पूछते हैं मेरी उम्र के बारे में तो कहता हूं, जन्म १ मई, १९९३ को हुआ. अब वहां से लगा लीजिए हिसाब. सच यह है कि उससे पहले की ज़िंदगी मैंने घर-परिवार के दायित्व की पूर्ति के लिए जी थी. अपना असली जीवन, जो मात्र अपना है, वह तो अब आरंभ हुआ है. नौकरी के प्रति न्याय करता रहा, जिससे स्वयं अपने प्रति दायित्व न निभा पाने का अपराधबोध भी कहीं सालता रहा. लिखने के लिए मुझे एकांत चाहिए, एकाग्रता. मन पसंद वातावरण और कहीं किसी किस्म का कोई व्यवधान नहीं. नौकरी के साथ-साथ यह सब कैसे हो पाता ! फिर भी, जिस रूप में, जितना बन सका, लेखन के प्रति दायित्व निभाने का प्रयास पूरी ईमानदारी से करता रहा. बाद में अन्यत्र काम करने के लिए कई-कई प्रलोभन आये, परंतु मैंने भूल से भी उस ओर झांका नहीं.

सारा का सारा शेष समय अब अपना है. पढ़ने-लिखने, घूमने-फिरने की पूरी-पूरी स्वच्छंदता ! इस बीच अपने विगत जीवन की ओर दुबारा झांकने का अवसर मिला. इस आकलन ने मुझे एक नयी दृष्टि दी.

सच कहूं तो गत पांच-छह सालों में जितना लेखन किया, उतना पिछले पंद्रह-सोलह सालों में भी शायद न कर पाया हूंगा. बहुत-सी कहानियां जो अच्छी-अच्छी पत्र-पत्रिकाओं में कभी छपी थीं, समयाभाव के कारण यों ही इधर-उधर बिखरी पड़ी थीं. उन्हें संवारकर, दुबारा लिखकर एक नया कहानी-संग्रह तैयार हो गया, जो 'गंधर्व गाथा' शीर्षक से छपा. 'नील नदी का वृक्ष' कविता-संग्रह आया. 'धर्मयुग' के लिए लगभग चार साल तक 'जनपथ' शीर्षक से जो स्तंभ लिखता रहा, वह 'आठवां सर्ग' नाम से छपा. 'काला पानी' पर कुछ काम किया, लगभग चार-पांच साल का समय लगाकर, 'यातना शिविर में' पुस्तक तैयार हो गयी. इस बीच कई कहानियां लिखीं. खूब यात्रा वृत्तांत लिखे. नया कविता संग्रह प्रकाशनार्थ दे रहा हूं. दो-तीन और पुस्तकों पर काम चल रहा है. इतना गहरा आत्मिक संतोष मुझे पहले कभी अनुभव नहीं हुआ था. कई पुस्तकों की योजनाएं हैं. कभी-कभी यह विचार भी आता है कि काश ! यह निर्णय दस-पंद्रह साल पहले ले लिया होता ! यों भाग्यवादी नहीं हूं, फिर भी लगता है कि हर बात का एक मुहूर्त होता है, एक निर्णायक क्षण. शायद उस क्षण को इतने वर्ष बाद ही आना था.

**● किन लेखकों को पढ़कर आपने पसंद किया, पसंदगी का कारण ?**

जिन लेखकों को हम पढ़ते हैं, अनायास ही वे कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में हमें प्रभावित करते रहते हैं. लेखक जाति, धर्म, देश, भाषा की सीमाओं से परे होते हैं, इसलिए लेखक को हमेशा मात्र लेखक के रूप में ही लेता हूं. मुझे अधिक पसंद जो लेखक आये, उनमें से कुछ हैं : तोल्स्तोय, चेखव, खलील जिब्रान, गाल्सवर्दी, इवान तुर्गनेव, शरच्चंद्र, फणीश्वरनाथ 'रेणु' आदि. इनकी कालजयी कृतियां मन को ही नहीं छूतीं, मस्तिष्क को भी झकझोरती हैं. देश-काल की परिधि से परे ये रचनाएं नित नयी लगती हैं और बहुत कुछ सोचने के लिए विवश करती हैं.

**● इन अग्रणी कथाकारों के क्रम में आपने 'रेणु' को भी रखा ?**

प्रेमचंद से आगे के लेखक हैं 'रेणु.' हिंदी ही नहीं, संभवतः समग्र भारतीय लेखन में रेणु एकमात्र ऐसे लेखक हैं, जिनकी रचनाओं में ग्रामीण अंचल का एक-एक कण जीवंत होकर मुखरित हुआ है. इतना विलक्षण चितेरा साहित्य के इतिहास में कहीं कोई दूसरा नहीं दिखता, जिसके शब्द-शब्द में इतना स्पंदन हो, इतनी जीवंतता !

**● वर्तमान स्थिति पर लिखते हुए एक बार आपने कहा था कि साहित्य में अब 'माफिया' घर कर रहा है. इससे आपका तात्पर्य क्या है ?**

इधर कुछ वर्षों से हम देख रहे हैं कि मानव-मूल्यों का धीरे-धीरे ह्रास हो रहा है. नैतिकता, ईमानदारी आदि के लिए भी कहीं किंचित ठौर नहीं दिखता. साहित्य भी इस सब से प्रभावित न हो, यह कैसे हो सकता है ? यों एक समूह बनाकर छा जाने की प्रवृत्ति 'नयी कहानी' के दौर में शुरू हुई थी, जिसने धीरे-धीरे अब एक विकराल रूप ले लिया है. आलोचना के क्षेत्र में पहले तय हो जाता है कि किस कृति को, किस रूप में लेना है. किसे आसमान तक उछालना है, किसे रसातल में पहुंचा देना है. इसका प्रभाव कालांतर में पाठक वर्ग पर भी पड़ता है, सामान्य आलोचकों पर भी. वे भी उसी को पत्थर की लकीर मान लेते हैं और बिना किसी प्रकार के सोच एवं श्रम के साहित्य का इतिहास लिखनेवाले भी बाद में उसी संहिता का अनुशीलन करते हैं. इस तरह एक अर्थहीन पूर्वाग्रह अंततोगत्वा उस काल का सच हो जाता है. जो लेखक एकांत भाव से, पूरी निष्ठा के साथ निरंतर लिख रहे हैं, वे समय के साथ हाशिए पर चले जाते हैं. जो नगरों-महानगरों की सीमा-रेखाओं से दूरदराज़ क्षेत्रों में, महानगरों के महारोगों से परे हैं, वे भी इसी उपेक्षा के शिकार हो जाते हैं. उनके प्रकाश में आने के सारे मार्ग, सभी दिशाओं से अवरुद्ध लगते हैं. अधिकांश पत्र-पत्रिकाओं की स्थिति भी इससे अधिक भिन्न नहीं रह गयी है. वहां भी सीमित स्वार्थों का साया है. संचार माध्यम भी कुछ

'भाग्यविधाताओं' की मुट्ठी में कैद हैं. इसलिए इस समय सबसे बड़ी आवश्यकता है, समग्र साहित्य के पूर्वाग्रह रहित समुचित आकलन की. हिंदी-साहित्य का जो ग़लत इतिहास लिखा जा रहा है, उसे सही-सही लिखने की.

**● साहित्य के इस इतिहास से क्या-क्या शिकायतें हैं आपको ? क्या उसमें कुछ ऐसी गंभीर खामियां हैं, जिन्हें आप उचित नहीं पाते ?**

मैं अपनी व्यक्तिगत शिकायत की बात नहीं कह रहा, मैं एक सीधी-सच्ची बात को ग़लत ढंग से लिखे जाने की या न लिखे जाने की बात कर रहा हूं. हिंदी साहित्य का इतिहास मात्र बनारस, इलाहाबाद, पटना या लखनऊ अथवा दिल्ली के ही कुछ लोगों का नहीं है. इसमें संपूर्ण भारत के हिंदी लेखन के सही-सही आकलन का समावेश होना चाहिए. पंजाब, गुजरात, राजस्थान, हिमाचल तथा मध्य प्रदेश के अलावा दक्षिण के अनेक राज्यों में अनेक हिंदी साहित्यसेवी हुए हैं, जिनका कभी भूले-भटके भी ज़िक्र नहीं आता है. आख़िर ऐसा क्यों ? विदेशों में कई हिंदीभाषी या विदेशी हिंदी सेवा रचनाकार हुए हैं, साहित्य के इतिहास में सदैव वे अछूत क्यों रहें ? साहित्य सब का है, सब के लिए है, उसमें किसी तरह के भेदभाव के लिए स्थान नहीं होना चाहिए. जिसका जितना योगदान है, उसे अवश्य रेखांकित किया जाना चाहिए.

**● प्रेम पर केंद्रित आपने कई उपन्यास लिखे हैं. व्यक्तिगत जीवन में प्रेम की असफलता तो कहीं इनके मूल में नहीं ?**

बिना अनुभूति के भी क्या कहीं साहित्य का सृजन होता है ? धुआं है तो आग भी होगी ही. सफल प्रेम कभी लिखने के लिए प्रेरित नहीं करता. असफलता एवं अतृप्ति का भाव ही सृजन का निमित्त बनता है. सफल प्रेमी-प्रेमिका स्वर्ग-सा जीवन जीने लगते हैं, लेखन-वेखन सब भूल जाते हैं. असफलता व्यक्ति को हांट करती है और वह लेखन भी पाठक हो हांट करता है.

**● अपनी सबसे सफल कृति किसे मानते हैं और वैसा मानने के पीछे तर्क क्या है ?**

लेखक को अपनी सभी रचनाओं से समान रूप से मोह होता है. फिर भी कुछ कारणों से जो कृति सबसे कम चर्चित हुई हो या उपेक्षित रह गयी हो, उसके प्रति लेखक का कुछ अधिक मोह होता है. यों सबसे अधिक चर्चित 'कगार की आग' उपन्यास रहा. उपेक्षितों में 'समय साक्षी है'. राजनीति में क्या-क्या होता है, उसका यह एक प्रकार से प्रामाणिक दस्तावेज है. पिछली कुछ दशाब्दियों में देश सेवा के नाम पर क्या-क्या अनाचार राष्ट्र के 'भविष्यविधाताओं' ने नहीं किये ? उसकी कुछ झलकियां 'समय साक्षी है' में प्रस्तुत की गयी है.

**● इस तरह से देखा जाये तो आपके उपन्यास 'अरण्य' की भी चर्चा कम ही हुई है ?**

आज साहित्य की जो स्थिति हो गयी है, उसमें लेखक के लिए मात्र लिखना ही पर्याप्त नहीं रह गया है. साहित्य जब 'वस्तु' बन जाये तो बाज़ार और बिक्री की महत्ता उसके लिए आवश्यक हो जाती है. साहित्य सृजन के बाद जो साहित्य-धर्म साहित्यकार के लिए शेष रह जाता है, जो इस व्यापार में माहिर नहीं, उनके घाटे में रहने की संभावनाएं बढ़ जाती हैं. फिर भी, यह सत्य सबको स्वीकार करना ही होगा कि साहित्य एवं संस्कृति के क्षेत्र में कुछ देर अवश्य हो सकती है, परंतु अंधेर की संभावनाएं उतनी नहीं. यों अपवाद किस क्षेत्र में नहीं हैं ?

**● उम्र के इस मोड़ पर आपको भी मनोहर श्याम जोशी की तरह एक ठौ 'वार एंड पीस' या 'क्राइम एंड पनिश्मेंट' लिखने का ख़्याल तो नहीं आता ?**

जब-जब मैं पीछे मुड़कर देखता हूं, आकलन करता हूं अपने लिखे का, तो हर बार एक प्रकार का असंतोष उपजता है. लगता है, वस्तुतः जो लिखा जाना था, जिसे मैं लिखना चाहता था, वह लिखा जाना तो अभी शेष है. गत ४५ वर्षों में जो लिखा गया, वह तो भूमिका मात्र है. अनेक वर्षों से लेखन की अनेक महत्वपूर्ण योजनाएं मन के किसी कोने में संजोई हुई हैं - नये धरातल पर, कुछ नया, कुछ अच्छा लिखने की. लगता है, अनेक दायित्वों से मुक्त होकर अब इस दिशा में ठोस कार्य करने का समय आ गया है. उसके लिए तैयारी कर रहा हूं, एक सीमा तक कर भी चुका हूं. बस, उसे आरंभ करना ही शेष है ! नयी पृष्ठभूमि पर मेरा यह एक सर्वथा नया उपन्यास होगा. देखें, समय कितना साथ दे पाता है ! फिर भी प्रयास तो करने ही हैं, स्थितियां अनुकूल न हों, तब भी.

**● उपन्यासों के अलावा कहानियां भी आपने कम नहीं लिखीं. अपनी प्रतिनिधि रचनाएं आप किन्हें मानते हैं ?**

लेखक अपनी रचनाओं का आकलन स्वयं करे, यह बड़ा अटपटा-सा लगता है. यह काम तो पाठकों का है या फिर समालोचकों का. अपनी ओर से लेखक क्या कह सकता है ! अपनी प्रिय रचनाओं का चुनाव तो लेखक कर सकता है, लेकिन अपनी प्रतिनिधि रचनाओं का चुनाव वह नहीं कर सकता. यह काम तो सुधी पाठक और विद्वान आलोचक ही कर सकते हैं.

**● लेखक मात्र लेखक ही नहीं होता, वह प्रबुद्ध पाठक तथा निष्पक्ष आलोचक भी होता है कहीं. यदि उसमें दृष्टि है तो अपनी रचनाओं के भले-बुरे हर पक्ष का जितना स्वस्थ विवेचन वह कर सकता है, शायद कोई दूसरा नहीं. मात्र एक पाठक के नाते आपको अपनी कहानियों में कौन-सी सबसे अच्छी लगती हैं ?**

मेरे आकलन के हिसाब से वही कहानी श्रेष्ठ है, जिसे एक बार पढ़ने के पश्चात् जीवन में आप चाहकर भी उसे भूल न सकें.

'अपने ही कस्बे में', 'अंततः', 'सजा', 'समुद्र और सूर्य के बीच', 'तर्पण', 'अगला यथार्थ', 'जो घटित हुआ' आदि कहानियां मुझे इस दृष्टि से उल्लेखनीय लगीं. इनमें कई कहानियों का नाट्य रूपांतर हुआ तथा कुछ पर फिल्में भी बनी हैं.

**● कोई अंतरंग मित्र, जिससे मन की बात कह सकते हों, रहस्यमय या अंतरंग भी, जिससे भेद खुलने का खतरा न हो ?**

मित्रों के प्रश्न पर मैं बहुत अधिक उदार होते हुए कहीं बहुत संकोची भी हूं. यों मित्रों में भी कम मित्र होते हैं, जिन्हें वास्तव में सच्चे मित्रों की श्रेणी में रखा जाये. फिर भी मैं अपने को बहुत सौभाग्यशाली मानता हूं. मेरे मित्रों की संख्या अपार है. शायद यही मेरे जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है, जीवन-भर की अर्जित सबसे मूल्यवान निधि, पर बंधुवर, मेरी पसंद और नापसंद के बीच गहरी खाई भी है. जो पसंद है, बहुत पसंद है, जिन्हें नापसंद करता हूं, उन्हें स्पष्ट रूप से बिल्कुल नापसंद करता हूं. यों तो अनेक अभिन्न मित्र हैं, फिर भी एक मित्र हैं, जिन्हें बड़ा भाई भी समझ सकते हैं - सत्येंद्र शरत्... मेरे गुण-दोष जितना वे जानते हैं, उतना शायद ही कोई और जानता हो. निःसंकोच भाव से किसी भी समस्या पर उनसे बातें हो सकती हैं. यह भी निश्चित है कि जो कुछ कहा गया है, वह उन्हीं तक सीमित रहेगा. इतने सहृदय, विश्वसनीय मित्र आज की दुनिया में कम होते हैं.

**● नयी पीढ़ी को अपने अनुभवों के आधार पर कुछ सलाह देना चाहेंगे ?**

अपने अनुभवों से ही आदमी बहुत कुछ सीखता है. ठोकरें खाने से व्यक्ति में परिपक्वता आती है, परंतु उस मार्ग से जो पहले आगे बढ़े हैं, उनके अनुभव भी कभी-कभी कुछ काम आ सकते हैं. साहित्य व्यवसाय नहीं, जीवनपर्यंत चलनेवाली एक अटूट तपश्चर्या है. इसलिए इसमें लाभ-हानि का अंकगणित अधिक उपयोगी नहीं रह पाता. यहां क्षणिक लाभ और झूठ जैसे तत्वों की महत्ता लंबे समय तक कारगर नहीं रह पाती. जब जीवन में ही जीने का कोई सही सिद्धांत नहीं तो साहित्य या संस्कृति में कैसे बन पायेगा ? इसलिए साहित्य में निष्ठा, सतत साधना और सिद्धांत का अपना विशिष्ट स्थान है. साहित्य में शॉर्टकट नहीं हैं. यह कांटोंभरी लंबी राह है, जो दुर्गम बीहड़ों से गुज़रती है.

दुनिया में कोई भी लेखक बिना आधारभूत सिद्धांतों के महान नहीं बना. साहित्यकार इसलिए साहित्यकार कहा जाता है कि वह मात्र अपने लिए नहीं जीता, उन लोगों की लड़ाई भी लड़ता है, जो अपनी लड़ाई स्वयं नहीं लड़ पाते. जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र की सीमाओं से जो ऊपर नहीं उठ पाया, वह जीवन में और कुछ भी बन जाये, सही अर्थों में लेखक कभी नहीं बन सकता.

नयी पीढ़ी में प्रतिभा है, परंतु हिंदी की स्थिति को देखते हुए कहा जा सकता है कि उसके सामने सही संतुलित विकास के साधन नहीं हैं. पत्र-पत्रिकाएं अब नहीं के बराबर रह गयी हैं. कुछ अपवादों को छोड़कर अनेक ज़गहों में अनेक 'समूह' छाये हैं, अपने पैने पंजे फैलाये. या तो वे उन मसीहाओं के अनुगामी बनें, अन्यथा सर्वत्र उनके लिए 'प्रवेश-निषेध' के संकेत लिखे हैं. इलेक्ट्रॉनिक संचार माध्यमों की स्थिति इससे भी दयनीय है.

आज कुछ बड़ा बनने के लिए कुछ छोटा होना अनिवार्य हो रहा है. नये लेखक की पुस्तक यदि प्रयत्न करके कहीं से प्रकाशित भी हो गयी तो उसके अचर्चित ही चले जाने की आशंकाएं अधिक दिखती हैं. यदि सौभाग्य से सौ-पचास लोगों के बीच गलती से वह थोड़ा-बहुत चर्चित हो भी गयी तो उससे भी तब तक कुछ नहीं होगा, जब तक कुछ 'पंडों' के द्वारा उन कृतियों पर 'आई. एस. आई.' या 'ऐग-मार्का' चिन्ह नहीं लगेगा. जिस तरह से देश दरिंदों के हाथों में चला गया है, उसी तरह साहित्य में भी एक तरह की प्रेत-छाया दिन-प्रतिदिन अपना प्रभाव बढ़ाती चली जा रही है. नयी पीढ़ी को विरासत में यही कंटक भरा अंधियारा मार्ग मिला है. इसलिए उनमें अधिक क्षमता की आवश्यकता है, निष्ठा के साथ अधिक अच्छा लिखने की. गुणवत्ता के द्वारा ही वे अपना मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं. साहित्यिक श्रेष्ठता ही उन्हें इस भीड़ में अपनी पहचान बनाने का विकल्प दे सकती है.

मैं स्थिति से निराश नहीं, मानता हूं कि ये बाधाएं नये लेखक में नयी ऊर्जा का संचार करने में सहायक होंगी. जो जुंझारू नहीं, वह जीवन में और कुछ बने या न बने, पर लेखक कभी नहीं बन सकता. यह चरम सत्य भूलना नहीं चाहिए कि अंत में जीत अच्छी कृति की ही होती है.

जब तक व्यक्ति श्रेष्ठ नहीं, पुस्तक भी श्रेष्ठ नहीं हो सकती. लेखक के आंतरिक विश्व का ही प्रतिबिंबन तो होता है लेखन. भीतर से बड़ा बने बिना किसी का साहित्य भी बड़ा कैसे हो सकता है ? हां, आज जो अनेक लोग जोड़-तोड़ के द्वारा बड़े दिख रहे हैं, वे छाया मात्रा हैं. समय के साथ-साथ जिनके अस्तित्वहीन होने में समय नहीं लगेगा. आज की नयी चुनौतियों से नयी पीढ़ी को बल मिलेगा और वह अधिक प्रभावशाली ढंग से नये सार्थक साहित्य का सृजन कर एक नये विश्व के निर्माण का सपना साकार करेगी. अभिशाप, अभिशाप ही नहीं, कभी-कभी वरदान के पर्याय भी बन जाते हैं, यदि हम सतत प्रयत्न करते रहें तो !

**हिमांशु जोशी,**
७ सी-२ हिंदुस्तान टाइम्स अपार्टमेंट,
मयूर विहार फ़ेज-I, दिल्ली ११००९१

**बलराम,**
५३ सी, ऊना एन्क्लेव,
मयूर बिहार फ़ेज-I, दिल्ली ११००९१

पुस्तक समीक्षा

# समाजिक सरोकारों से ओतप्रोत कहानियां

✍ डॉ. नाहिद

''टुकड़े टुकड़े होता वर्तमान'' - (कहानी संग्रह) : *माया शबनम*
प्रकाशक - शुभदा प्रकाशन, ११०५२-ए, सुभाष पार्क, शाहदरा, दिल्ली ११००३२ मूल्य : १०० रू.

माया शबनम हिंदी संसार के लिए अपरिचित नाम नहीं है. नौ उपन्यास, एक खंडकाव्य तथा एक कहानी संग्रह की लेखिका के रूप में वे अपना स्थान निश्चित कर चुकी हैं. 'टुकड़े टुकड़े होता वर्तमान' उनका दूसरा कहानी संग्रह है. इसमें सोलह कहानियां संग्रहीत हैं. 'दलदल', 'शरीफन', 'खारिज़ होता ही रहेगा रामअभिलाख' जैसी पुरस्कृत और चर्चित कहानियां संग्रह का विशेष आकर्षण हैं.

'टुकड़े टुकड़े होता वर्तमान' कहानी मां-बेटे के संबंधों को लेकर लिखी गयी है. वृद्धा बड़की अम्मा की आशाओं का एकमात्र आधार है - आई. ए. एस. बेटा अमरेश. मन में उम्मीदों के लाखों दीप जलाये वह बेटे बहू की प्रतीक्षा कर रही है. बेटा आयेगा कष्ट दूर होंगे. कुआंरी बेटी की सूनी मांग भरेगी. उसके दिन बहुरेंगे. बेटे को अकेले आया देखकर उसकी उम्मीदें टूट जाती हैं. शहरी बहू ग्रामीण परिवेश में, वह भी सुविधाओं के अभाव में कैसे रह सकती है ! बेटे को भी अब मां-बहन की चिंता कहां. वह तो विदेश जाने से पहले घर में सामान रखने आया है. मां की गंभीर हालत देखकर भी वह रुकता नहीं. उसका झिलंगा और बची खुची धरोहर कमरे से बाहर करके उसमें अपना सामान ठूंस देता है. बड़ी अम्मा की पीड़ा का अंत नहीं. अतीत में परायों को भी जोड़ने वाली बड़ी अम्मा अपने ही घर, अपने ही ज़िगर के टुकड़े अपने बेटे द्वारा निष्कासित कर दी जाती हैं.

'शरीफन' घर-घर कपड़ा धोने वाली, गरीबी के चक्र में पिसती शरीफन की कहानी है. निखट्टू पति, बड़े बेटे का घर-अलगाव, छोटे बेटे की जानलेवा बीमारी उसे और भी जीवट से भर देती है. अंतस की गहराई से निकली उसकी उक्ति -'अब तो गदही के माफिक हमही का समझा बुआ' पाठकों को उसकी पीड़ा का एहसास कराती है. दुखों के बीच भी वह जीने का सहारा खोज लेती है. ग्राहक मात्र ग्राहक नहीं, उसके अपने हैं. भय्या, बुआ, दीदी, बचवा आदि संबोधनों से वह बीच की खाई को पाटने की कोशिश करती है. मज़हब की दीवारें उसके आड़े नहीं आतीं. होली-दीवाली उसके लिए ईद-बकरीद जैसे उत्सव लाते हैं. सुगंधित कर्पूर जैसा उसका प्रेम एकता, अखंडता की दुहाई देने वालों के लिए एक चुनौती बन कर उभरता है. हां, कभी-कभी बड़मनइयों का व्यवहार उसे आक्रोश से भर देता है - 'का बुआ हमार मुसवा मनई के लरिका न होय ? हम महतारी न होई ? बड़मनई के तो और दया धरम नाहीं रहत ?'

'दलदल' नौकरशाही के जाल में उलझे ओंकार नामक युवक की मर्मस्पर्शी कहानी है. पिता की दुर्घटना में मृत्यु हो जाने के बाद उसके स्थान पर नौकरी पाना ओंकार के लिए बेरोज़गारी से निज़ात का जरिया तो बनता ही है साथ ही पिता की कुर्सी पर बैठना उसे पिता की रिक्तता के गहरे भाव बोध में डुबो देता है. ट्रॉन्सफर ऑर्डर पाकर तो वह जैसे पंखकटे पक्षी-सा फड़फड़ा उठता है. जुगाड़ से ट्रॉन्सफर रुकवाने की कोशिश अंततः उसे अहमद जैसे दलाल के चक्कर में डाल देती है. कहानी सफेदपोश नेताओं की कथनी और करनी के अंतर को भी बड़ी निर्भीकता से पर्त-दर-पर्त उघाड़ती है. जेब की आखरी कौड़ी गवां कर वह थका हारा घर पहुंचता है. उसकी आंखें तो तब खुलती हैं जब उसके स्थान पर डायरेक्टर के साले का साला ज्वाइन कर लेता है.

'खारिज़ होता ही रहेगा राम अभिलाख,' में अस्पतालों की दुर्व्यवस्था का चित्रांकन हुआ है. राम अभिलाख की पत्नी को कुत्ते ने काट लिया है. इलाज़ के लिए सुई प्राप्त करने के लिए वह एक वार्ड से दूसरे वार्ड, एक डॉक्टर से दूसरे डॉक्टर, एक कंपाउंडर से दूसरे कंपाउंडर के पास भटकता फिरता है. अपनी सारी जमा पूंजी और इकलौती गाय गवां कर भी वह सुई प्राप्त नहीं कर पाता. अंततः पत्नी कुत्ते की तरह भूंक भूंक कर प्राण दे देती है. वह तो मर कर मुक्त हो जाती है किंतु रामअभिलाख तिलतिल कर चुकने की पीड़ा को झेलने को अभिशप्त है.

'गिद्ध' कहानी गरीबी और शराबी पति की दोहरी मार खाती सुभागा की कहानी है. सुभागा घर-घर बर्तन मांज कर बेटियों को सुंदर भविष्य की आशा में स्कूल भेजती है. बेटियां भी मां के सपने को पूरा करने में तन्मयता से जुटी हैं किंतु रास्ते की सबसे बड़ी अड़चन है बाबू, सुभागा का पति और बच्चियों का पिता. वह पत्नी के ऊपर अमानुषिक अत्याचार तो करता ही है, बेटियों को भी कमाई का ज़रिया बनाना चाहता है-" ज़वाब दे कि तूने बेटा क्यों नहीं जना ? बाप का कर्ज तो औलाद ही चुकाती है न ? बेटा नहीं तो बेटी को चुकाना पड़ेगा..." किंतु सुभागा के जीवट के आगे उसका प्रयास विफल हो जाता है. बेटियों के साथ वह जीवन समर में अकेली कूद पड़ती है. यात्रा का सुखद आरंभ है पति का निष्कासन. कसाई जैसे पति के

ख़िलाफ कोर्ट में गवाही देने में शर्म कैसी. सुंभागा की घोषणा पीड़ित शोषित, दलित औरत की पीड़ा को पूरी जिजीविषा से झकझोरती है - "मेम साहब, ऊ बाप नहीं राच्छस है, नाग है, कसाई है. आप उसे हथकड़ी डलवा दें. रही गवाही तो कोरट में खड़े हो कर गवाही हम देंगे."

'बंजर खेती' और 'असभ्य' कहानियां स्कूल, कॉलेजों में बैठे तानाशाहों का दंश भोगते अध्यापकों की कथाएं हैं. 'बंजर खेती' में जहां अपनी ही शिष्या बनी प्रिंसिपल के आतंक की शिकार होती है उसी स्कूल की प्रवक्ता प्रज्ञा सिन्हा, वहीं 'असभ्य' में सत्यनारायण अपने ही गुरू हरीश को अनेकों प्रकार से प्रताड़ित और अपमानित करता है. हरीश और प्रज्ञा ज्ञान और वरिष्ठता में अपने शिष्यों से कहीं आगे हैं किंतु पंगु प्रशासन के चलते वे वहीं के वहीं रह जाते हैं जबकि सिफारिश और कोटे का लाभ उठा कर उनके शिष्य सीढ़ियां फलांगते उनके बॉस बन बैठते हैं. अपने छात्र-छात्राओं को आदर्श मनुष्य बनाने की उनकी सारी कोशिशें बेकार सिद्ध होती हैं. अर्थ संचयन की प्रवृत्ति के कारण उन्हें अपने ही गुरुओं को मोहरा बनाने में तनिक भी संकोच नहीं होता. इन कहानियों में हरीश एवं प्रज्ञा अंत तक व्यवस्था के खिलाफ लड़ते नज़र आते हैं.

संग्रह की अन्य कहानियां भी सामाजिक सरोकारों से जूझते, पोर-पोर गरीबी में डूबे, व्यवस्था के मकड़जाल में उलझे किंतु किसी भी दशा में आदर्शों एवं सिद्धांतों से न डिगने वाले पात्रों की कहानियां हैं. उनमें अधिकांश कहानियों के पात्र निम्नवर्ग या निम्न मध्यवर्ग के हैं और बेहद सीधे-सादे हैं. उनकी आवश्यकताएं सीमित हैं, दुनिया सीमित है. वे हर प्रकार के छल प्रपंच से दूर हैं, अपने श्रम पर भरोसा करते हैं. अपनी गरीबी में खुश हैं. यही कारण है कि जब वे बाहरी दुनिया में प्रवेश करते हैं तो उन्हें अनेकानेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है. उनका संघर्ष पाठकों का संघर्ष बन जाता है.

माया शबनम की ये कहानियां स्थिर मन से लिखी कहानियां हैं. इनमें कोरी भाषणबाजी नहीं धीमी-धीमी आंच है जो अपनी उपस्थिति का एहसास दर्ज कराती है. उनकी भाषा में रवानगी है और वह कथ्य को संभाले रहती हैं. हां, एक बात और 'मुझे क्षमा नहीं करोगी ?' और 'होली मुबारक' जैसी कमज़ोर कथा वाली कहानियों में पठनीयता बरकरार रहती है तो वह भाषा के प्रवाह के कारण. संग्रह की कहानियों में प्रतीकों और दृश्य बिंबों का प्रयोग हुआ है. कुल मिला कर उनका यह कहानी संग्रह पठनीय एवं संग्रहणीय है.

एच-३, सिगरा स्टोर कॉम्प्लेक्स,
नगर निगम, वाराणसी (उ. प्र.)

# जीवन के विभिन्न पहलुओं की कहानियां

✍ डॉ. श्रीमती सुदेश बहल

''मकड़ी का जाला'' - (कहानी-संग्रह) : *मधुप शर्मा*
**प्रकाशक** - आत्माराम एंड संस, कश्मीरी गेट,
दिल्ली ११० ००६ **मूल्य** : १५० रू.

'मकड़ी का जाला' कहानी संग्रह मानवीय जीवन के विभिन्न पहलुओं को लेकर लिखी गयी कहानियों का संकलन है. आज के समाज की अनेकानेक समस्याएं लेखक के मन-मानस को उद्वेलित करती प्रतीत होती हैं. कहीं पर वे राजनीति की चालों से क्षुब्ध हैं तो कहीं जीवन मूल्यों के स्खलन से दुःखी और उत्तेजित. कहीं उनकी चेष्टा है कि समाज की बुराइयों को दूर कर शाश्वत मूल्यों को प्रस्थापित कर दें तो कहीं बेचैनी है कि लाख कोशिशों के बावजूद समाज की सोच आसानी से सफलता पाने की ओर बढ़ जाने से चाहे-अनचाहे नयी पीढ़ी अब आकर्षण की ओर बढ़ती जा रही है. उदाहरणतया 'मकड़ी का जाला' कहानी को ही लें जिसमें लेखक ने बड़ी सुघड़ता से मूल्यों के विभेद का चित्रण किया है. आज की उपभोक्ता संस्कृति में भौतिक उपलब्धियों का आग्रह, देखा-देखी, चमक-दमक की ज़िंदगी के प्रति जनसाधारण का प्रबल आकर्षण आदि सभी कुछ इस कहानी में बखूबी दर्शाया गया है. सुनीता के मन में सदा इन सब की चाह रही है, लेकिन आदर्शवादी पति के द्वारा उन पर अंकुश लगा रहा है. पुत्र के पास जाकर उसकी समस्त सुप्त इच्छाएं पूर्ण होती हैं, परंतु अप्रत्याशित रूप से घटनाएं दूसरा ही मोड़ ले लेती हैं. वह सब कुछ जानते हुए भी अपने बेटे के दोषों पर पर्दा डालना चाहती है. लेखक ने अपने आदर्शों को 'बलराम' के शब्दों में व्यक्त किया है -''उसूल, आदर्श, वर्षों की शिक्षा, मेरी ज़िंदगी भर की तपस्या सब कुछ मिट्टी में मिला दिया उसने. वह आत्मा को कंगाल कर के भौतिक सुविधाओं की दलदल जुटाने लगा है.'' कहानी का शीर्षक बहुत ही उपयुक्त है -प्रतीकात्मक बिंब की सहायता से लेखक ने भौतिक सुख-सुविधा के आकर्षण में फंसे मानव को मकड़ी के जाले में फंसी हुई मक्खी की भांति बेबस और निढाल दिखाया है.

इस संग्रह की प्रत्येक कहानी का एक विशिष्ट उद्देश्य है, जिसे कहानी के समस्त अंग समेट कर ले चलते हैं. भाषा की चित्रात्मकता और बिंब तथा प्रतीकों के प्रयोग से कहानियों में काव्यात्मकता आ गयी है. मधुप जी का कवि-व्यक्तित्व कहानीकार के व्यक्तित्व से जुड़कर प्रभावात्मकता को और भी बढ़ा देता है. जीवन की छोटी सी छोटी घटना कितनी जीवंत हो सकती है, इसका उदाहरण 'कन्हैया' और 'प्रायश्चित' कहानियों में मिलता है. 'प्रायश्चित' कहानी में रघु का अपराध-बोध इतना तीव्र होता है कि अपंग संतान का हत्यारा रघु अपना अवकाश-प्राप्त जीवन

इन बच्चों की सेवा में बिता कर प्रायश्चित करना चाहता है. आरक्षण की समस्या और सवर्णों का आक्रोश, 'मैं क्या ज़वाब दूंगा' कहानी में चित्रित है. आरक्षण के विरोध में एक प्रतिकात्मक आत्मदहन इस कहानी में दिखाई देता है. इसी प्रकार 'हत्यारा' कहानी महानगरों के जीवन में होने वाली दुर्घटनाओं की ओर इंगित करने के साथ इस मशीनी जीवन के उस पहलू को भी दिखाती है जब वाहन चालक बिना किसी दया-करुणा के जल्दी से जल्दी अपनी मंजिल तक पहुंचना चाहता है. वह भूल जाता है कि जिसे उसने अभी टक्कर लगायी है, वह किसी का बेटा, बाप या भाई होगा. उसे समय पर डॉक्टरी सहायता मिल जाये तो वह बच भी सकता है. परंतु टैक्सी ड्राइवर को अपने धंधे की चिंता है और यात्री अपने- अपने स्वार्थ से घिरे हैं. कहानी की चरम सीमा में टैक्सी ड्रॉइवर को लौटते समय पता चलता है कि उसका अपना बेटा ही उसकी टैक्सी द्वारा मारा गया है.

कहानीकार ने यथार्थ के अनेक चित्र इन कहानियों के माध्यम से प्रस्तुत किये हैं, परंतु अपने मानवतावादी मूल्यों के कारण वे आदर्शवाद की ओर मुड़ जाते हैं. इसका विशेष कारण लेखक की सोच है, उनका सामाजिक सरोकार है. वे आशावादी हैं - उनकी विचारधारा सकारात्मक है. शाश्वत जीवन-मूल्यों को सहेजकर लेखक ने अपने विभिन्न पात्रों का सृजन किया है. 'उखड़ा हुआ पौधा और 'मुकुल के दादाजी' इसके अच्छे उदाहरण हैं. इस प्रकार इन कहानियों में जीवन का यथार्थ रूप है - प्रवाहमयी भाषा एवं काव्य गुणों के कारण कहानियां प्रभावोत्पादक हैं. सामाजिक चेतना और कवि-लेखक के मानवतावादी अहसासों के कारण आदर्श झलकते नज़र आते हैं.

२०३, गुलशन-२, जुहू लेन,
अंधेरी (प.), मुंबई-४०० ०५८

# सकारात्मक सोच की लघुकथाएं

✍ डॉ. वेदप्रकाश 'अमिताभ'

''हां यह सच है'' - (लघुकथा संग्रह) : ***दिनेश पाठक 'शशि'***
**प्रकाशक** - श्री शिव-शक्ति प्रकाशन,
कोसी कलां-२८१४०३ **मूल्य** : ६० रू.

हिंदी में सार्थक लघुकथाएं लिखी जा रही हैं, उनमें कुछ तो एक कुरेद देने वाला विचार फेंक कर आगे बढ़ जाती हैं और कुछ नुकीले व्यंग्य-बिंदु पर पाठक को ठिठका देती हैं. दिनेश पाठक 'शशि' के इस लघुकथा संग्रह की अधिकतर लघुकथाएं 'कंट्रास्ट' के माध्यम से व्यंग्य की निष्पत्ति करती हैं. स्थितियों का विद्रूप उनकी इन लघुकथाओं में कुछ इस तरह अनुस्यूत है कि पाठक या तो बेचैन हो उठता है या सोचने-विचारने को विवश हो जाता है. 'अपनी बारी', 'षड़यंत्र', 'सभ्यता', 'चोरी', 'आदर्शवादी', 'प्रमोशन', 'दृष्टिकोण', 'समान अधिकार' आदि रचनाओं में लगभग दो विपरीत परिस्थितियां या दो विरोधी विचार आमने-सामने हैं. कथा लेखक इस टकराव को एक निश्चित परिणति देता है, लेकिन उसका अपना स्टैंड एकदम साफ़ रहता है. 'अपनी बारी' में दो मिलती-जुलती स्थितियों में व्यक्ति के अलग-अलग आचरण पर अंगुली रखी गयी है. 'सभ्यता' में भी आचरण का दोहरापन है और उसके माध्यम से बूढ़ी पीढ़ी का दर्द मुखर हो उठा है. 'चोरी' लघुकथा 'कंट्रास्ट' के माध्यम से भ्रष्टाचार को उजागर करती है. यही स्थिति 'प्रमोशन' में है जहां बेईमानी करने पर प्रोन्नति होती है और ईमानदारी अपमान करा देती है. श्रमजीवियों के जीवन की विसंगतियों पर कई लघुकथाएं इस संग्रह में हैं और वे व्यंग्य, कटाक्ष, तुलना आदि अनेक प्रविधियों के जरिए मौजूदा व्यवस्था में श्रमजीवी की नियति को रेखांकित करती हैं. जाहिर है कि 'हां, यह सच है' की लघुकथाओं का संसार व्यापक है और इसमें जनतंत्र, आरक्षण, सांप्रदायिकता आदि मुद्दों से लेकर आम आदमी की भूख, गरीबी तक के हादसे समाहित हैं.

ऊपरी तौर पर दिनेश पाठक 'शशि' की लघुकथाएं अपने समय के कालांकित मुद्दों से अधिक सरोकार रखती हैं. लेकिन यथार्थ के ब्यौरों तक सीमित रह जाना उनकी प्रकृति नहीं है. वे दुर्घटनाओं, विडंबनाओं से पाठक को गुज़ारते हुए अंततः व्यापक अमानवीयकरण के रूबरू खड़ा कर देते हैं. सर्वव्यापक और सर्वग्रासी अमानवीयकरण, लघुकथाकार की प्रमुख चिंता है. 'रोटी के लिए' रचना में 'वह' की मनुष्यता बची हुई है. लेकिन आस-पास का तंत्र तथा परिवेश उसे अमानवीय व्यवहार के लिए विवश कर देते हैं. थोड़ी देर पहले बूढ़े वर्कर को ताऊ कहने वाला 'वह' सीनियर को आते देख कर एकदम आंखें बदल लेता है, *''ए बुड्ढे, नौकरी नहीं करनी क्या ? चल इस तरह लगा शीट को.''*

'समानांतर दर्द' में बहुत मार्मिक ढंग से जताया गया है कि हृदयहीनता आम बात हो गयी है. एक युवती के साथ युवक को यात्रा करते देख कर सहयात्रियों का 'ऐश करने जा रहे हैं' जैसी टिप्पणी करना गौरतलब है. वे तब पानी-पानी हो जाते हैं, जब युवती कहती है- *''आपके भी जब पिताजी मर रहे होंगे तो आप भी अपनी बहन के साथ ऐश करने गये होंगे.''* निहित स्वार्थों के लिए दंगे-फसाद, हत्या तक कराने की अमानवीयता 'यथावत्', 'दूरदृष्टि', 'मंत्रणा', 'प्रहरी' आदि कथाओं में है. 'प्रहरी' के श्रमिक नेता का चेहरा तब खिल उठता है, जब उन्हें पता चलता है कि पुलिस के कुछ आदमी भी श्रमिक-प्रतिरोध के दौरान मारे गये हैं. 'समय' इस संग्रह की उल्लेखनीय कथा है, जिसमें 'श्रमजीवी' के प्रति ठेकेदार-ओवरसियर की कठोरता मुखर है.

व्यंग्य के सर्जनात्मक उपयोग की दृष्टि से 'ईमानदारी', 'देवशयन' सरीखी लघुकथाएं दृष्टव्य हैं. इनमें न तो स्फीति है, न वाचलता और ये अपने लघु-कलेवर में व्यंग्यात्मक झनझनाहट से लैस हैं. एक व्यक्ति मिस्टर मुखर्जी को ईमानदार बताता है

क्योंकि वह जिस काम के लिए रिश्वत लेता था, उसे पूरा अवश्य करता था. 'देव-शयन' का छोटा सा समापन-वाक्य अनेक अर्थछटाओं से संपन्न हैं -'देव सोते रहें.' इन लघुकथाओं से 'शब्द', 'वाक्य' के सही उपयोग की क्षमता प्रमाणित हुई है. अप्रस्तुतों के माध्यम से बिंब ग्रहण कराने की कौशल कई लघुकथाओं में उल्लेखनीय है. 'रोटी के लिए' में 'दहशत' का प्रारूप कुछ इस तरह व्यक्त हुआ है : "जैसे बलि से पहले बकरे की आंखें बदल जाती हैं, वही क्षमा-भाव उन निरीह आंखों में उमड़ पड़ा था."

दिनेश पाठक 'शशि' की ये लघुकथाएं जहां 'कथ्य' और शिल्प के समुचित तालमेल के लिए प्रशंसनीय हैं, वहीं कुछ लघु कथाएं यथा - 'सकारात्मकता', 'तेरे मेरे, उसके घर', 'दावत' आदि आश्वस्त करती हैं कि अमानवीयकरण के दौर में थोड़ा बहुत शुभ, और मानवीय बचा हुआ है. मूल्य और मनुष्यता के प्रति इस सकारात्मक आस्था ने इन लघुकथाओं को विशिष्ट, पठनीय और विचारणीय बना दिया है.

१४/१०६, मोती मिल कंपाउंड, अलीगढ़ (उ. प्र.)

# बदलते गांवों का यथार्थ और दांपत्य प्रेम का उत्कर्ष

पुष्कर कुमार

''यह अंत नहीं'' - (उपन्यास) : *मिथिलेश्वर*
प्रकाशक - किताबघर प्रकाशन, २४ अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली - ११० ००२. **मूल्य** : २५० रू.

दलित जीवन सिर्फ़ अभावों, पीड़ाओं और उपेक्षाओं से त्रस्त रहा है यह मानना दलित जीवन का इकहरा मूल्यांकन है. ऐसा मूल्यांकन दलित जीवन को उसकी व्यापकता से काट कर एक नारे में ढालता है. कभी प्रगतिशीलता और जनवादिता के नाम पर भी ऐसा हुआ था कि शोषण-दमन के चालू मुहावरों पर आधारित कहानियां एवं उपन्यास यांत्रिक बनते चले गये थे. तब कुछ कथाकारों ने आगे बढ़कर वैविध्य और व्यापकता के तहत कथा-लेखन को उस यांत्रिकता से मुक्त किया था. दलित लेखन भी उस मुकाम पर पहुंच चुका है जहां जूठन खाने, मैला ढोने, अछूत बनकर जीने और सामाजिक प्रताड़ना के दंश सहने के नाम पर बोझिल, एकरूप और एकरस होता जा रहा है. बदलती सामाजिक स्थितियों के बीच सिर्फ़ अतीत की यातना कथाओं से ही दलित जीवन की मुकम्मल तस्वीर सामने नहीं आती. इस स्थिति में मिथिलेश्वर का नया उपन्यास 'यह अंत नहीं' विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिसमें दलित जीवन के सामाजिक और आर्थिक संघर्ष के साथ-साथ एक युवा दलित दंपत्ति के दांपत्य प्रेम का बेजोड़ चित्रण किया गया है... संभवतः इधर के लिखे उपन्यासों में यह पहला उपन्यास है जिसमें दलित जीवन के मुक्ति संघर्ष के साथ पति-पत्नी के परस्पर प्रेम का हृदयग्राही वर्णन मिलता है...

इस उपन्यास की नायिका चुनिया पिछड़ी जाति की एक लड़की है. उसका पिता गांव का बनिहार है. उसकी मां बड़े जोतदारों के यहां दाई का काम करती है तथा भाई बुंतु चरवाही के काम पर लगा है. प्रारंभ में वह भी एक बड़े जोतदार के यहां नौकरानी थी. बाद में उस जोतदार के बेटे नियति के ख़िलाफ़ बगावत कर अपने घर रहने लगी और मवेशी पालने लगी... आगे चलकर अपनी ही बिरादरी और हैसियत के एक लड़के जोखन से उसकी शादी हुई जो गांवों में चलने वाले जाति संघर्ष का एक सक्रिय युवक था तथा पेशे से राजमिस्त्री का काम करता था... उसकी मां बचपन में ही मर चुकी थी. उसकी सौतेली मां सितावो, कर्कशा और बदलचन स्त्री थी.

चुनिया और जोखन के दांपत्य प्रेम की शुरूआत 'सुहागरात' से ही होती है, जब एक दूसरे की इच्छाओं का सम्मान करते हुए वे एक-दूसरे को समर्पित होते हैं.

*"तो तू अभी तक सोयी नहीं ?"*

*"अउर का तुम सो गये थे ?"*

*"बाक़िर तूने तो अभी कहा कि आज...!"*

*"ऊ तो मैं परख रही थी कि तू मेरी बात कितना मानते हो और तोहरे अंदर कितना सबुर है." इसके बाद...!* (पृष्ठ ७३).

अपनी सौतेली सास के दुर्व्यवहार और आक्रामक रवैये से तंग आकर कभी चुनिया, जोखन के साथ अपने नैहर भी आ जाती. *"लेकिन जोखन के जाते ही बचपन का उसका खेला-कूदा अपना यह प्यारा गांव-घर वीरान जान पड़ने लगता..."* (पृष्ठ १४२).

जोखन की स्थिति भी वैसी ही थी - *"शादी से पहले मैं कहीं भी रह जाता था चुन्नो...! कुछ भी खा लेता था... कहीं भी पड़ जाता था. तब मुझे किसी बात का डर नहीं लगता था. बाक़िर तुमसे शादी के बाद तुम्हारी अनुपस्थिति और अभाव में जाने क्यों बहुत अकेला महसूस करता हूं...!"* (पृष्ठ १४२).

चुनिया, अपनी सौतेली सास की ज्यादतियों के बावजूद उससे उलझना नहीं चाहती थी. सास के सारे जुल्म सह लेती. लेकिन जब उसकी सास ने जोखन को गलियाना शुरू किया तो वह बर्दाश्त नहीं कर सकी - *"अब जो तू अपनी खैर चाहे तो इतने पर ही चुपा जा. अब जहां दुबारा जोखू का नाम लेकर कुछ कहा तो तुझे सावुत नहीं छोड़ूंगी..."* (पृष्ठ १३६).

जोखन राजमिस्त्री के अपने कार्य के दौरान नगर के कल्लन सेठ की बन रही नयी इमारत के ऊपरी हिस्से से गिरकर दुर्घटनाग्रस्त हो जाता है. उसके हाथ-पांव टूट जाते हैं तथा बेहोशी की हालत में उसे अस्पताल पहुंचाया जाता है. सूचना से अवगत हो चुनिया बदहवाश स्थिति में वहां पहुंचती है. *"अपने फुर्तीबाज़ और उत्साही जोखन को इस रूप में देख चुनिया के अंदर जैसे*

*तूफान उठ खड़ा हुआ. वह अपने जोखन को ठीक करके रहेगी."* (पृष्ठ १५७).

अस्पताल के उसी कमरे में, जोखन को लेकर चलने वाले मजदूर आंदोलन को भ्रमित करने के लिए एक साज़िश के तहत जोखन की हत्या के लिए एक हत्यारा वहां पहुंचा था. *"वार उसने मज़बूती से किया था और जोखन की छाती और पेट के बीच के उस हिस्से पर किया था, जहां का वार घातक होता है. जहां के प्रहार के बाद शिकार को बचाया नहीं जा पाता है. लेकिन चुनिया के हाथ भी अपने नैहर में गंड़ासी से कुट्टी काटने वाले हाथ थे. गंड़ासी और हंसुआ चलाने और थामनेवाले हाथ इतने नाज़ुक नहीं थे कि इस वार को वे रोक और झेल न सकें...उसके हाथ उस चाकू के प्रहार से ज़ख्मी हो गये. लेकिन जोखन पर गिरने से उसने रोक दिया."* (पृष्ठ १७५).

अपने नैहर खवासडीह और ससुराल पहाड़पुर से अलग रघुनाथपुर नामक एक गांव चुनिया और जोखन की जीविका का गांव बनता है... परिस्थितियां उन्हें निरंतर संघर्षरत रखती हैं. इसके बावज़ूद वे एक-दूसरे का दामन थामे रहते हैं... रघुनाथपुर के मतदान केंद्र पर बूथ लुटेरों की आपसी भिड़ंत के दौरान जब जोखन ज़ख़्मी हुआ था तो सूचना से अवगत होते ही चुनिया चिल्ला उठी -*"नहीं...अइसा नहीं हो सकता..." और अपने तन की सुध बिसार बेतहाशा दौड़ पड़ी. उसके हाथ से खाने का बर्तन गांव की गली में ही झन्न से गिर गया. रोटियां एक ओर फेंका गयीं तथा सब्जियां दूसरी ओर...बीच में बर्तन का डिब्बा औंधे मुंह पड़ गया और ढक्कन अलग जा उलटाया. श्रीवास्तव जी के यहां से नियमतः रोज उसे खाना मिलता था. वही खाना वह लेकर जा रही थी. उस खाने से ही अपने और पति के एक शाम का निर्वाह वह कर लेती थी."* (पृष्ठ २६१).

चुनिया और जोखन के प्रेम का पहला पुष्प एक बच्चा पैदा होता है. पर एक दुर्घटना के तहत रघुनाथपुर के पोखरे में डूबकर मर जाता है. अपने उस पुत्र के लिए चुनिया और जोखन दोनों समान रूप से व्यथित हैं. पर जोखन अपनी व्यथा को छिपाते हुए चुनिया की व्यथा दूर करने के लिए उसे सांत्वना देता है तथा अपने प्रेम में चुनिया को डुबो कर पुत्र शोक से उसे बरी करता है - *"अपना हिया कड़ा करो चुन्नो ! अपने को इस तरह ढहने मत दो... अभी सारा जीवन बाकी है...! हमें अभी बहुत कुछ करना है. यह सिर्फ़ हमारे-तुम्हारे साथ नहीं, सबके साथ होता है. आज हमारे यहां घटित हुआ, कल किसी और के यहां होगा...!"* (पृष्ठ २२३).

चुनिया और जोखन के अभावग्रस्त जीवन में घटनाओं-दुर्घटनाओं की बाढ़ थमने का नाम नहीं लेती. इस संबंध में उनके 'जुझारू जीवटपन के पीछे उनका प्रखर दांपत्य प्रेम ही है जो उन्हें शक्ति प्रदान करता है. वे एक-दूसरे के लिए जीने में ही नहीं, मरने में भी विश्वास करते हैं. यह जान चुकने के बाद कि रघुनाथपुर के इंद्रासन श्रीवास्तव कहीं से भी ग़लत नहीं, वे तहेदिल से उनकी मदद करते हैं... अपने घर में घुस आये छेदी डकैत को अपने संगठित प्रयास से मारते हैं. रघुनाथपुर के नरसंहारों और जातीय युद्ध को अपनी मध्यस्तता के माध्यम से शांत करते हैं. ऐसा करते हुए भी एक-दूसरे के प्रति अपने आकर्षण और समर्पण में उनका पूर्व राग तिरोहित नहीं होता. उनके दांपत्य प्रेम का क्लाइमैक्स वहां पहुंचता है जहां अपहृत जोखन की खोज में इस संकल्प के साथ चुनिया निकलती है कि या तो जोखन को लेकर ही लौटेगी या फिर उसकी खोज में ही अपने को समाप्त कर देगी. *"तीसरी रात अपने अंदर के उठे तूफान और झंझावात के अनुसार चुनिया सक्रिय हो गयी. उसे लगा, इस तरह हाथ रख कर जोखन की प्रतीक्षा उसके लिए उचित नहीं. क्या इसी दिन के लिए साथ-साथ जीने मरने का वादे उसने किये थे ? क्या उसके अपहरण पर भी ऐसे ही बैठता जोखन ? नहीं, वह हर्गिज़ नहीं बैठता... तो चुनिया भी अब नहीं बैठेगी. उसे उपरा कर रहेगी..."* (पृष्ठ ३४३).

और सचमुच चुनिया जोखन को उपरा लेती है. लेकिन उपन्यास की यह आख़िरी घटना उनकी समस्याओं की अंतिम घटना नहीं है. अपने समर को अंतहीन मान कर वे लड़ते रहते हैं. कोई चालू निदान न दे उपन्यासकार मिथिलेश्वर ने चुनिया और जोखन के सतत संघर्ष से उपन्यास का अंत किया है. जो सार्थक और समीचीन अंत है. इतने बड़े सामाजिक यथार्थ वाले उपन्यास में दांपत्य प्रेम को साधे रखना मुझे इस उपन्यास की अन्यतम विशेषता जान पड़ी है.

यहां उत्तर आधुनिक मानसिकता के आलोचक यह प्रश्न खड़ा कर सकते हैं कि चुनिया और जोखन का यह एकनिष्ठ प्रेम नारी स्वातंत्र्य या नर स्वातंत्र्य की उत्तर आधुनिक अवधारणा का विरोधी है. वैसे लोगों को यह जानना चाहिए कि एक-दूसरे से अतृप्त और असंतुष्ट दंपत्ति ही जायका बदलने की वैसी उच्छृंखलता के अनुयायी होते हैं. लेकिन हमारे आदर्श चरित्र वे नहीं हो सकते. चुनिया और जोखन जैसे प्रेमी चरित्र ही हमारे आदर्श चरित्र बनते हैं. हमारे यहां आज भी ऐसे दंपत्तियों की कमी नहीं जो देह और मन दोनों धरातल पर एक दूसरे से ऐसे संपृक्त होते हैं कि उन्हें जीते जी विलग नहीं किया जा सकता... दैहिक सुख के सहभोगी वे जीवन समर के सहयात्री भी बने रहते हैं...

'यह अंत नहीं' उपन्यास में दांपत्य प्रेम दिखाने का मेरा तात्पर्य यह नहीं कि यह उपन्यास सिर्फ़ दांपत्य प्रेम की दृष्टि से ही सफल उपन्यास है. कथाकार श्री भीष्म साहनी के शब्दों में यह, 'बहु आयामी प्रभाव का उपन्यास है.' ('इंडिया टुडे',२१ फरवरी, ०१). आलोचक डॉ. विजेंद्र नारायण सिंह ने इसे 'बीसवीं शताब्दी का महाकाव्यात्मक आख्यान' कहा है ('आजकल' : फरवरी, ०१). डॉ. नामवर सिंह के अनुसार, *'बिहार की जातिवादी हिंसा और नक्सली आंदोलन को लेकर समाजशास्त्रीय तथ्यों के*

*लिए यह दस्तावेज़ी उपन्यास है. 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' की परंपरा में जो बदलाव बिहार के गांवों में आया है उसका बड़ा ही सजीव, तथ्यपरक और यथार्थ चित्र इस उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है. जो प्रामाणिक दस्तावेज़ है...''* (दूरदर्शन, 'सुबह सवेरे', का वक्तव्य) तथा आलोचक श्री मधुरेश ने इसे *''गांव के बचाव की चिंता''* (कथाक्रम, अप्रैल-जून, ०१) में लिखा गया उपन्यास कहा है...

उपन्यास की भाषा पठनीय है. शिल्प भी नयेपन से भरा है. मिथिलेश्वर की कथा यात्रा को यह उपन्यास विकसित करता है. मोटा होते हुए भी पठनीयता का भरपूर आकर्षण इसमें है. फ्लैप की टिप्पणी के अनुसार निःसंदेह 'हिंदी उपन्यास के समकालीन दौर में कलावाद और यथार्थवाद के द्वंद को पाटने वाला एक मज़बूत सेतु है यह उपन्यास. एक तरफ़ भाषा की रवानगी और खिलंदड़पन तो दूसरी तरफ़ ज़मीनी सच्चाइयों का अंकन.'

महावीर स्थान के निकट, करमन टोला,
आरा - ८०२ ३०१ (बिहार)

# सामाजिक संवेदना और शक्ति की आवाज़

✍ डॉ. पुरुषोत्तम दुबे

''जो आग है''- (कहानी संग्रह) : ***डॉ. सतीश दुबे***
प्रकाशक - दिशा प्रकाशन, १३८/१६, त्रिनगर,
दिल्ली ११००३५. मूल्य : ९० रू.

हिंदी कहानी में अब डॉ. सतीश दुबे का नाम नया नहीं रहा है. विगत तीन-चार दशकों से कथा-विधा से जुड़े होने के कारण डॉ. दुबे की कहानियां अपने शीर्षकों से भी पहचानी जाने लगी हैं. ''जो आग है'' डॉ. दुबे का तीसरा कहानी संग्रह है. प्रस्तुत संग्रह की कहानियां कहानीकार की समाजमूलक चेतना से अनुप्राणित हुई मिलती हैं. वर्तमान समाज के चमकते हुए मुखौटों से कहानीकार की आंखें चौंधिया जाकर चुप नहीं रहती, अपितु अपनी पैनी दृष्टि का संबल लेकर समाज में अंतर्निहित सामाजिक खोखलेपन को उजागर करने का उपक्रम रचती हैं.

अपनी सार्वजनिक शक्ति की ईमानदारी को आघात बनाकर किसी ज़रूरी गवाह की तरह कहानीकार अपनी रचनाओं में उन मूल्यों का बखान दोहराता मिलता है, जिन मूल्यों के पनपने से मनुष्य और समाज के मध्य सच्चाई के रिश्ते कायम होते हैं. निरंतर लघुकथा लेखन से संचरित डॉ. सतीश दुबे का कहानीकार अपनी कहानियों के माध्यम से समाज में एक ऐसे अनुकूल परिवर्तन को स्थापित करना चाहता है, जिसकी वज़ह से शोषण के सामने भीख की तर्ज़ पर फैलते हाथ नहीं कसी हुई मुट्ठियां हों. अराजकता के सामने पलायन की लय पर भागते हुए पैर नहीं, व्यवस्था की दिशा में जमे हुए अंगदी पांव हों. यही कारण है कि प्रस्तुत कहानी-संग्रह ''जो आग है'' की सोलह कहानियां, उन सोलह पायदानों की तरह हैं, जिनसे होकर पाठक आक्रोशहीन आक्रोश, निरर्थक बहसों की जुगालियां, अवसरवादिता का अनुकरण, मतलबपरस्ती का अंधापन, संबंधों में बढ़ते रिसावों, विवशता से पराजित भावनाओं और शंकाओं से विगलित विश्वासों जैसी विपन्न दशाओं से परिचित हो सके.

कहानी-संग्रह की जिल्द पर चढ़े ''जो आग है'' शीर्षक की सार्थकता में कमोबेश सभी कहानियां चिंगारियों की आहुतियां देती प्रतीत होती हैं. यथार्थ में एक चिंगारी की कीमत क्या हो सकती है ? इसी आशय से प्रस्तुत संग्रह के कथा-पात्र कहानियों में विघटित हुए हैं. प्रस्तुत संग्रह की ''आग्नेय'' एक सचेतन कहानी है. जिसका कथ्य बहुआयामी होकर भी समान परिदृश्य के कैनवस पर अवतरित हुआ है. आग्नेय का अग्निवेश समाज से संपृक्त समस्त दुरावस्था को नोंचकर व्यवस्था का शंख फूंकना चाहता है, मगर अनैतिक मूल्यों के कुरुक्षेत्र में अग्निवेश जैसे कर्मयोगी को पराभूत हो जाना पड़ता है.

इसी प्रकार ''ग्रंथि'' कहानी का राघव ''शहरी संस्करण'' का जामा पहनकर एक दिन अपने गांव आता है और अपने पिता को ठकुर के शोषण से मुक्त कराने के लिए मज़बूत इरादों के साथ ठकुर के घर पहुंचता है. परंतु उसकी क्रांति के अर्थ में कसी हुई मुट्ठियां ठकुर के सामने जाते ही नम्रता की तर्ज़ पर दोनों हाथों को जोड़ने में रूपायित हो जाती हैं. यहां पारंपरिक शोषण का अवसाद ही राघव को प्रसाद रूप में मिलता है. उक्त दोनों कहानियों में क्रांति के प्रति सजग व्यक्ति का आगे को निकला पांव उसके दम-ख़म को दर्शाता है. जबकि पीछे का पांव खोखलेपन की दल-दल में फंसा ही रह जाता है.

वर्तमान समय की सबसे बड़ी त्रासदी यही है कि आज हर कोई बातों का देवता बनने के यत्न में कर्म की मान्यता का अर्थ खोता जा रहा है. व्यक्तियों की सारहीन बातों और परिवेश की विडंबनाओं से विजड़ित ''जुगाली'' कहानी कहानीकार की भौतिक जीवन की विसंगतियों की समझ पर आधारित है. प्रस्तुत कहानी में कहानीकार का व्यंग्य मुखर हुआ है. वर्तमान राजनीतिक परिवेश पर निरर्थक चर्चा का ''बवाल'' किस प्रकार के दांपत्य जीवन को कचोटने में सफल हो जाता है, इस आशय को कहानी में बीज रूप से रखा गया है. आकार रूप में समाज में व्याप्त अराजकता, पक्षपात, मनमानी, लूट-खसौट और आम जनता की परेशानी पर आधारित व्यर्थ के बहस-मुबाहिसे हैं जो यह सत्यापित करते हैं कि हवाओं में हाथों को हिलाने वाले पारस्परिक मनोरंजन की वंदनवारें टांगते हुए भले ही देखी जा सकती हैं, किंतु एक संपूर्ण सामाजिक क्रांति की तख़्ती उठने में उनके वही हाथ कमज़ोर पड़ जाते हैं.

कहानीकार ने 'कटघरे', 'शुबहा', और 'आवाज़' कहानियों में समाज के उस घिनौने रूप से परिचय कराया है जिससे रिश्तों में दरार और बिखराव के पैदा होने की पूरी संभावना जान पड़ती है. लेकिन इसके साथ ही कहानीकार की सजगता ने मानसिक रूप से संपन्न व्यक्तियों द्वारा सामाजिक झूठ को घुड़कियां भी पिलवायी हैं. 'धरम', 'शर', 'भेंट', 'खाई' और 'अंडरस्टैंड' कहानियों में नारी के अलग-अलग चरित्र को विश्लेषित किया गया है. 'धरम' की नारी संपन्न ठेकेदारों के अशिष्ट व्यवहार की सीमेंट में छेद बनाकर स्वाभिमानी दिखलाई पड़ती है.'शर' की शची पुरुष को 'आत्मअवलोकन' करने का यातनाभाव देती है. 'भेंट' की मनीषा अवसरवाद से परिचालित होकर एक ही साड़ी के माध्यम से 'उपहार' और 'अभियोग' का अभिनय रचती है. जबकि 'खाई' अपराधिन स्त्री के प्रतिशोध को लेकर चलने वाली कहानी है, जो अपनी बदनामी को खारिज बनाने में "तिरिया चरित" का पत्ता फेंककर एक भोले इंसान को अपना निशाना बनाने में विजित हो जाती है. 'अंडरस्टैंड' विधवा नारी की जिजीविषा को उद्‌भासित करने वाली कहानी है. जिसमें विधवा इला अपनी बहू श्रुति में अनैतिक सामाजिकता का विषैला रूप देखती है.

कहानियों के कथ्य को अवलोकित करने में डॉ. सतीश दुबे का कहानीकार सजग होकर चला है. सामाजिक यथार्थ का तीव्र परीक्षण करने में कहानीकार ने समाज की गहनता में अपनी आंखें उतारी हैं. 'ज़िंदा लोग' में अवसरवादियों की पहचान, 'बॉस' कहानी में आकर और भी चमकीली हो जाती है. जबकि 'भव भय' में पुरुष की सदाशयता को उसकी लाचारी मान लिया जाता है. 'अर्थ' का नायक अपनी पत्नी के ठंडेपन को लेकर दांपत्य सुख को अनर्थ की कगार पर पटकता है.

इस प्रकार "जो आग है" की कहानियां स्थिति बोधक भी हैं, परिणाम बोधक भी. संकलन की सभी कहानियां कोई न कोई संदेश लेकर उभरी हैं. तात्विक दृष्टि से राजनीतिक अस्थिरता के कारण दूषित होता समाज, मतलबपरस्ती के कारण विगलित होते संबंध, अवसरवादिता के कारण पतित होते जीवन मूल्य सभी के अभिलेख इन कहानियों में अवस्थित हैं. इसके उपरांत भी विखंडन की धरती पर जुड़ते हुए लोग, बहावों की तीव्रता पर बांधों की भांति बंधते हुए विश्वास तथा स्वार्थ और अवसरवादिता की ड्राइंगशीट पर त्याग और सहयोग की उभरती तस्वीरें, यह आश्वासन अवश्य देती हैं कि "जो आग है" का कलेवर किसी विध्वंस के लिए नहीं, एक रचनात्मक क्रांति के पक्ष में चरितार्थ है.

"शशीपुष्प,"
७४-जे/ए, स्कीम नं. ७१, इंदौर-४५२ ००९

## घुमक्कड़ ज़िंदगी

✍ रमेश मनोहरा

*तुम्हारे पास पद हैं*
*वातानुकूलित बंगलें हैं.*
*और तिजोरियों से*
*भरी दौलत है.*
*और दौलत के साथ शोहरत है.*
*इसलिए सारा ऐशो आराम है.*
*न आपको भूख की चिंता है,*
*न अभाव की*
*बस आपकी ज़िंदगी में*
*खुशियों के जाम ही जाम हैं.*
*फिर भी आप पैसों के पीछे*
*बे-लगाम दौड़ रहे हैं,*
*इसके लिए आत्मीय रिश्ते भी*
*तोड़ रहे हैं.*
*इसके विपरीत हमारे पास है,*
*फटेहाली, कंगाली*
*और है जेब खाली.*
*भूख-गरीबी और अभाव से*
*हमारा गहरा नाता है.*
*जिससे हमारा*
*पीछा नहीं छूट पाता है.*
*क्योंकि हम*
*खुले आसमान के नीचे रहते हैं.*
*जहां मिलती मजदूरी*
*वहीं रैन-बसेरा करते हैं.*
*उसे ही अपना घर समझते हैं.*
*इसलिए न हमारे पास रंगीन टी. वी. है,*
*न कूलर है, न पंखे हैं*
*फिर भी हम भले चंगे हैं.*
*हमारी घुमक्कड़ ज़िंदगी में-*
*आप एक बार आकर झांकें*
*तो पायेंगे-*
*आपकी ज़िंदगी से*
*कहीं बेहतर ज़िंदगी है हमारी.*
*भूख-गरीबी ज़रूर है हमारे पास*
*मगर आपकी तरह न भागम-भाग है,*
*और न है मारा मारी.*

शीतला गली, जावरा (म. प्र.)

लघुकथा

# समानांतर दर्द

✍ दिनेश पाठक 'शशि'

"टिकट ?"

टी. टी. ई. के पूछते ही युवक ने जेब से निकाल कर दो टिकट आगे कर दिये.

"ये तो जनरल के टिकट हैं."

युवक के साथ यात्रा कर रही युवती की ओर देखते हुए टी. टी. ई. बोला, फिर सामने वाले यात्री से खिसकने का इशारा किया और उसके खिसकते ही खाली ज़गह में बैठ गया.

"जी, वो s वो... भागते-भागते पकड़ी थी गाड़ी, इसलिए... जाना भी बहुत ज़रूरी था न," युवक ने सफाई पेश की.

"एक सौ बहत्तर रुपये दो."

हाथ में पकड़ी रसीद बुक को खोलने का उपक्रम-सा करते हुए टी. टी. ई. बोला तो निरीहता से देखते हुए युवक ने रुपये दे पाने की असमर्थता व्यक्त की.

"जेब खाली थी तो फिर चढ़े ही क्यों थे इस कोच में."

टी. टी. ई. की दुत्कार सुन कर युवक ने जेब से निकाल कर ८० रुपये उसकी ओर बढ़ा दिये.

टी. टी. ई. ने रुपयों को पहले चुपके से गिना फिर ज़ोर-ज़ोर से गिनने लगा- "ये तो केवल ८० रुपये ही हैं. इतने में तो रसीद भी नहीं बनेगी." - कहते हुए टी. टी. ई. झटके से उठा और फिर दूसरे कोच की ओर जाने लगा.

युवती ने जाते हुए टी. टी. ई. की ओर देखा और फिर साथी युवक की ओर देखकर कुछ इशारा-सा किया तो युवक टी. टी. ई. के पीछे हो लिया.

जब युवक वापस लौटकर आया तो एक घंटा बीत चुका था और उन दोनों की एक चौथाई दूरी भी. वह थोड़ी देर तक युवती के पास बैठा किंतु उसकी घबराहट भरी उद्विग्नता स्पष्ट झलक रही थी. वह अपने स्थान से उठा और फिर से टी. टी. ई. के पास चल दिया.

जब दुबारा लौटकर आया तो उसकी यात्रा की आधी दूरी तय हो चुकी थी और फिर इसी तरह तीन चौथाई दूरी भी. आख़िर में जब यात्रा के ४-५ कि.मी. ही बचे होंगे कि इस बार टी. टी. ई. भी उस युवक के साथ आता हुआ दिखाई दिया. युवक का चेहरा काफी तनावपूर्ण लग रहा था क्योंकि सारी दूरी वह खड़े-खड़े टी. टी. ई. के आगे-पीछे ही भागता रहा था. टी. टी. ई. था कि बार-बार उसे धमकी तो दे रहा था पर रसीद नहीं काट रहा था.

युवती मौन, भाव शून्य-सी सब कुछ देख, सुन रही थी.

उस कोच के कुछ यात्री, उन दोनों को फंसा देख, मन ही मन प्रसन्न हो रहे थे तो कुछ 'सही टिकट' लेकर चलने की सलाह दे रहे थे तो कुछ, उन दोनों को संदेह की नज़र से भी देख रहे थे.

कहीं ...'भागकर तो नहीं आये ये दोनों ?' और इसी क्रम में कुछ मनचले यात्री उस युवती की ओर देख-देख कर उल्टे-सीधे वाक्य उछाल रहे थे.

जैसे-जैसे स्टेशन नज़दीक आता जा रहा था युवक के दिल की धड़कन बढ़ती जा रही थी. युवती अब भी शांत थी. जैसे ही उनका स्टेशन आने को हुआ, गाड़ी के धीमे होते ही टी. टी. ई. ने युवक की ओर देखा- "अच्छा लाओ, दो क्या है ?" युवक ने हाथ में मोड़कर पकड़े हुए रुपये उसे थमा दिये और राहत सी महसूस की.

"चाहे कितना भी ज़रूरी काम हो, अब कभी मत चढ़ना इस तरह रिजर्वेशन के कोच में." अहसान सा जताते हुए टी. टी. ई. ने उपदेश दिया, फिर अचानक ही उसे कुछ याद-सा आया. वह पुनः उन युवक-युवती की ओर कुटिलता से मुस्कराया - "बाई द वे, आप जा कहां रहे हैं ? और ऐसा कौन सा ज़रूरी काम आ गया जो..."

सुनकर कुछ यात्रियों ने ठहाका लगाया - "अरे भाई, ऐश करने जा रहे हैं ऐश, इससे भी ज़रूरी काम और क्या होगा ?"

तो किसी मनचले यात्री ने मुंह से सीटी बजा दी.

युवती ने घृणा से उस टी. टी. ई. की ओर घूरा और फिर हंसी उड़ा रहे यात्रियों की ओर देखते हुए रो पड़ी - "हां-हां, ऐश करने जा रहे हैं, आपके भी जब पिताजी मर रहे होंगे तो आप भी अपनी बहन के साथ ऐश करने गये होंगे."

सुनते ही सब पर घड़ों पानी पड़ गया. आस-पास सन्नाटा-सा छा गया और सभी यात्री एक-दूसरे से नज़रें चुराने लगे थे. तभी टी. टी. ई. ने चुपके से जेब में हाथ डाला और युवक द्वारा दिये रुपयों को निकाल कर उसके हाथ में थमा दिया -"रख लो, काम आयेंगे."

फिर उसने युवती की ओर देखा - "क्षमा करना बहन." धीरे से कहते हुए, नज़रें झुकाये वह दूसरे कोच में चला गया.

शायद अतीत के किसी क्षण ने उसे, उन दोनों के समानांतर ला खड़ा किया था.

आर. बी.-III/९८ बी,
रेल्वे कॉलोनी, मथुरा - २८१ ००१

काल की गति कोई नहीं बांच सका है. पिछले वर्ष १४ जुलाई को लेखिका श्रीमती सतीश श्रीवास्तव के एकमात्र पुत्र हेमंत जो एक सॉफ्ट वेयर इंजीनियर था, का देहांत एक कार दुर्घटना में होगया. संवेदनशील हृदय ने डायरी में कुछ कविताएं लिख रखी थीं - प्रस्तुत हैं हेमंत की दो कविताएं.

संपर्क : बी ७०२, निर्मल टॉवर, गौरव-गैलेक्सी फेज़-२ के पीछे, मीरा रोड, मुंबई ४०१०१७ (ठाणे)

## जन्मभूमि

✍ हेमंत श्रीवास्तव

छोड़ आया हूं बहुत पीछे
वह उज्जयिनी, वह महाकाल का मंदिर,
वह क्षीर सागर का पुराना
नर्सिंग होम, जो क्षिप्रा के किनारे था.
जहां एक तंग लेबर रूम में
बहुत कष्ट देकर, मैं जन्मा था.
उस उज्जयिनी में बुधवारी हाट में
सामान खरीदते मां फिसल गयी थी गोबर पर.
और मैं तिलमिला गया था कोख में.
क्या मैं उनके लिए शाप था ?
वे घबराकर मेरे मुंह पर
रख देती हैं अपनी हथेली,
नहीं... तुम तो वरदान हो मेरे.
उन सारे कष्टों का अंत है तुमसे,
जो तुम्हें गढ़ते हुए मैंने झेले.
भोली है मां !
नहीं जानती... या शायद मुझे गढ़ते हुए
भूल गयी कि
हर जीवन पहले से तय है,
कष्टों के लिए, हश्र के लिए, अंत के लिए.
जहां मुट्ठी भर जटायु के पंख लिये
हर जीवन को करनी है
राम की प्रतीक्षा.
हर जीवन को उगलना है
सीता का सत्य.
हर जीवन को पीना है विष ही विष.
अंतिम सांस तक
इसीलिए छोड़ आया हूं
अपनी जन्मभूमि, बहुत पीछे.

## गुलाब और कांटा

मैंने तुम्हें गुलाब कहा
और स्वयं को कांटा.
सुनकर लोग हंसने लगे.
कुछ इतनी ज़िंदादिली से
जैसे जाड़ों की सर्द सुबह–
नहा कर निकले हों गर्म कुंड से.
हां वे हंस सकते हैं,
क्योंकि वे मोहित हैं गुलाब पर
और सत्य नहीं जानते कांटों का.
उनकी हंसी उनकी विकृत मानसिकता का
एक ऊबा हुआ पल है.
जो उन्हें कर देता है कुछ हलका
तनाव से, ज़िंदगी की ज़द्दोजहद से
या मात्र भ्रम कि
लोग हंसते हैं कांटों पर
कि ढूंढ़ नहीं पाते
कांटों की गोद में लुके गुलाब को.
इसमें उनका क्या दोष ?
जब कांटे देखना ही उनकी नियति है
गुलाब तो वे कब का खो चुके.

❑❑❑

## ग़ज़ल

✍ उमाशंकर राव 'उरेंदु'

न जमीं, न छत, न आकाश दोस्तो,
कहें किसे अपना यह सवाल दोस्तो.

जिनके बदन से पसर रही है खुशबू,
वह किसी गरीब के पसीने की आवाज़ दोस्तो.

रास्ते-दर-रास्ते, भटकती है रूह,
ज़िंदगी नहीं मौत का बस सवाल दोस्तो.

टाट-छप्परों पर महलों की शामत खड़ी है,
इंसानियत नहीं, हैवानियत का सवाल दोस्तो.

कितने घरों की आग चूल्हे से चोरी हो गयी,
सामने खड़ी रोटी का, बस सवाल दोस्तो.

सं. - यथार्थ-देश, छत्तीसी, पो. बिलासी टाउन, जि. - देवघर ८१४ ११७ (झारखंड)

# हमकदम लघु-पत्रिकाएं

*(प्रस्तुत सूची में यदि कोई त्रुटि रह गयी हो या किसी पत्रिका का प्रकाशन बंद हो गया हो तो कृपया सूचित करें.)*

**बराबर** (पा.) - ए. पी. अकेला, ५ यतीश बिजनेस सेंटर, इर्ला सोसायटी रोड, विलेपार्ले (प.), मुंबई - ४०० ०५६
**कथादेश** (मा.) - हरिनारायण, सहयात्रा प्रकाशन प्रा. लि., १००९ इंद्रप्रकाश बिल्डिंग, २१ बाराखंभा रोड, नयी दिल्ली - ११०००१
**तिब्बत देश** (मा.) - विजय क्रांति, १० रिंग रोड, लाजपत नगर-४, नयी दिल्ली - ११० ०२४
**दाल-रोटी** (मा.) - अक्षय जैन, १३ रश्मन अपार्टमेंट, एस. एल. रोड, मुलुंड (प.), मुंबई - ४०० ०८०
**वागर्थ** (मा.) - प्रभाकर श्रोत्रिय, भारतीय भाषा परिषद, ३६-ए, शेक्सपीयर सरणी, कलकत्ता - ७०० ०१७
**साहित्य अमृत** (मा.) - विद्यानिवास मिश्र, ४/१९ आसफ अली मार्ग, नयी दिल्ली - ११० ००२
**शुभ तारिका** (मा.) - उर्मि कृष्ण, ए-४७ शास्त्री कॉलोनी, अंबाला छावनी - १३३ ००१
**शिवम्** (मा.) - विनोद तिवारी, जय राजेश, ए-४६२, सेक्टर-ए, शाहपुरा, भोपाल - ४६२ ०३९
**अरावली उद्घोष** (त्रै.) - बी. पी. वर्मा 'पथिक', ४४८ टीचर्स कॉलोनी, अंबामाता स्कीम, उदयपुर ३१३ ००४
**अपूर्व जनगाथा** (त्रै.) - डॉ. किरन चंद्र शर्मा, डी-७६६, जनकल्याण मार्ग, भजनपुरा, दिल्ली - ११० ०५३
**अभिनव प्रसंगवश** (त्रै.) - डॉ. वेदप्रकाश अभिताभ, ४/१०६, मोती मिल कंपाउंड, अलीगढ़ (उ. प्र.)
**असुविधा** (त्रै.) - रामनाथ शिवेंद्र, ग्राम-खड़ुई, पो. पद्मूगंज, सोनभद्र - २३१ २१३ (उ. प्र.)
**अक्षरा** (त्रै.) - गोविंद मिश्र, मं. प्र. रा. समिति, हिंदी भवन, श्यामला हिल्स, भोपाल - ४६२ ००२
**आकंठ** (त्रै.) - हरिशंकर अग्रवाल / अरुण तिवारी, महाराणा प्रताप वार्ड, पिपरिया ४६१ ७७५ (म. प्र.)
**अंचल भारती** (त्रै.) - डॉ. जयनाथ मणि त्रिपाठी, ६/५४ देवरिया-रामनाथ, देवरिया - २७४ ००१
**अंतरंग** (त्रै.) - प्रदीप बिहारी, चतुरंग प्रकाशन, मेनकायन, न्यू कॉलोनी, उलाव, बेगूसराय - ८५१ १३४
**अंतरंग संगिनी** (त्रै.) - दिव्या जैन, गोविंद निवास, सरोजिनी रोड, विलेपार्ले (प.), मुंबई - ४०० ०५६
**कंचन लता** (त्रै.) - भरत मिश्र 'प्राची', डी-८, सेक्टर-३ए, खेतड़ी नगर - ३३३ ५०४
**कृति ओर** (त्रै.) - विजेंद्र, सी-१३३, वैशाली नगर, जयपुर - ३०२ ०२१
**कथन** (त्रै.) - रमेश उपाध्याय, १०७, साक्षरा अपार्टमेंट्स, ए-३, पश्चिम विहार, नयी दिल्ली - ११० ०६३
**कथा समवेत** (त्रै.) - शोभनाथ शुक्ल, कल्लूमल मंदिर, सब्जी मंडी, चौक, सुल्तानपुर - २२८ ००१
**कारवां** (त्रै.) - कपिलेश भोज, पो. सोमेश्वर, अल्मोड़ा - २६३ ६३७
**कल के लिए** (त्रै.) - डॉ. जयनारायण, 'अनुभूति', प्लानिंग कॉलोनी, अलीगढ़- (उ. प्र.)
**कहानीकार** (त्रै.) - कमल गुप्त, के ३०/३६ अरविंद कुटीर, वाराणसी २२१ ००१
**गीतकार** (त्रै.) - साथी छतावरी, ९३३/२ तंवर मार्ग, नज़फगढ़ रोड, नयी दिल्ली - ११० ०१५
**गुंजन** (त्रै.) - मोहन सिंह रावत, रोहिला लॉज परिसर, तल्लीताल, नैनीताल - २६३ ००२
**तटस्थ** (त्रै.) - डॉ. कृष्ण बिहारी सहल, विवेकानंद विला, पुलिस लाइन्स के पीछे सीकर - ३३२ ००१
**तेवर** (त्रै.) - कमलनयन पांडेय, १५८७/४, उदय प्रताप कॉलोनी, बढ़ैयावीर, सिविल लाइन्स, सुलतानपुर - २२८ ००१
**दस्तक** (त्रै.) - राघव आलोक, "साराजहां", मकदमपुर, जमशेदपुर - ८३१ ००२
**दीर्घाबोध** (त्रै.) - कमल सदाना, अस्पताल चौक, ईसागढ़ रोड, अशोक नगर ४७३ ३३१ (म. प्र.)
**दीर्घा** (त्रै.) - डॉ. विनय, २५ बैंगलो रोड, कमला नगर, दिल्ली ११० ००७
**निमित्त** (त्रै.) - श्याम सुंदर निगम, १४१५, 'पूर्णिमा', रतनलाल नगर, कानपुर २०८ ०२२
**निष्कर्ष** (त्रै.) - गिरीश चंद्र श्रीवास्तव, ५९ खैराबाद, दरियापुर रोड, सुलतानपुर - २२८ ००१
**परिधि के बाहर** (त्रै.) - नरेंद्र प्रसाद 'नवीन,' पीयूष प्रकाशन, महेंद्रू, पटना - ८०० ००६
**पश्यंती** (त्रै.) - प्रणव कुमार बंद्योपाध्याय, बी-१/१०४ जनकपुरी, नयी दिल्ली - ११० ०५८
**प्रयास** (त्रै.) - शंकर प्रसाद करगेती, 'संवेदना', एफ-२३, नयी कॉलोनी, कासिमपुर, अलीगढ़ - २०२ १२७
**प्रेरणा** (त्रै.) - अरुण तिवारी, सी-१६०, शाहपुरा, भोपाल - ४६२ ०१६
**पुख** (त्रै.) - विजयकांत, गोशाला रोड, मुजफ्फरपुर (बिहार)
**भाषा सेतु** (त्रै.) - डॉ. अंबाशंकर नागर, हिंदी साहित्य परिषद, २ अमर आलोक अपार्टमेंट, बालवाटिका, मणिनगर, अहमदाबाद - ३८० ००८
**मसि कागद** (त्रै.) - डॉ. श्याम सखा 'श्याम,' १२ विकास नगर, रोहतक १२४ ००१
**मुहिम** (त्रै.) - बच्चा यादव / रणविजय सिंह सत्यकेतु, रचनाकार प्रकाशन, गुरुद्वारा मार्ग, पूर्णिया - ८५४ ३०१
**युग साहित्य मानस** (त्रै.) - सी. जय शंकर बाबु, १८/७९५/एफ/८-ए, तिलक नगर, गुंतकल - ५१५ ८०१ (आं. प्र.)
**युगीन काव्या** (त्रै.) - हस्तीमल 'हस्ती,' २८ कालिका निवास, नेहरू रोड, सांताक्रुज, मुंबई - ४०० ०५५
**वर्तमान जनगाथा** (त्रै.) - बलराम अग्रवाल, डी-२२ शांतिपथ, पत्रकार कॉलोनी, तिलक नगर, जयपुर - ३०२ ००४
**शब्द-कारखाना** (त्रै.) - रमेश नीलकमल, अक्षरविहार, अवंतिका मार्ग, जमालपुर - ८११ २१४ (बिहार)
**संदर्भ** (त्रै.) - संगीता आनंद, चुरू कोढी हाता, मोराबादी, रांची ८३४ ००८

सार्लक (त्रै.) - मधुकर गौड़, डी-३ शांतीनगर, दत्त मंदिर रोड, मलाड (पू.), मुंबई - ४०० ०९७
संबोधन (त्रै.) - कमर मेवाड़ी, चांदपोल, कांकरोली - ३१३ ३२४
समकालीन सृजन (त्रै.) - शंभुनाथ, २० बालमुकुंद मक्कर रोड, कलकत्ता - ७०० ००७
साखी (त्रै.) - केदारनाथ सिंह, प्रेमचंद साहित्य संस्थान, प्रेमचंद पार्क, बेतिया हाता, गोरखपुर - २७३ ००१
सदभावना दर्पण (त्रै.) - गिरीश पंकज, जी-५० नया पंचशील नगर, रायपुर - ४९२ ००१
समझ (त्रै.) - डॉ. सोहन शर्मा, ए/१२ दीपसागर, पंतकी बाग के पास, अंधेरी (पू.), मुंबई - ४०० ०६९
सार्थक (त्रै.) - मधुकर गौड़, डी-३ शांतिनगर, दत्त मंदिर रोड, मलाड (पू.), मुंबई - ४०० ०९७
संदर्भ (त्रै.) - संगीता आनंद, चुरू कोठी हाता, मोराबादी, रांची - ८३४ ००८
संयोग साहित्य (त्रै.) - मुरलीधर पांडेय, २०४/'ए' चिंतामणि अपार्टमेंट, आर.एन.पी. पार्क, काशी विश्वनाथ नगर, भयंदर, मुंबई - ४०११०५
स्वातिपथ (त्रै.) - कृष्ण 'मनु', साहित्यांजन, बी-३/३५, बालुडीह, मुनीडीह, धनबाद - ८२८ १२९
शब्द संसार (त्रै.) - संजय सिन्हा, पो. बॉक्स नं, १६४, आसनसोल ७१३३०१
शुरुआत (त्रै.) - वीरेंद्र कुमार श्रीवास्तव, ३० आकाश गंगा परिसर, पुरानी बस्ती, मनेंद्रगढ़
शेष (त्रै.) - हसन जमाल, पन्ना निवास के पास, लोहार पुरा, जोधपुर -३४२ ००२
हिंदुस्तानी ज़बान (त्रै.) - डॉ. सुशीला गुप्ता, महात्मा गांधी बिल्डिंग, ७ नेताजी सुभाष रोड, मुंबई - ४०० ००२
अविरल मंथन (छ.) - राजेंद्र वर्मा, ३/२९ विकास नगर, लखनऊ - २२६ ०२०
अब (अ.) - शंकर / अभय / नर्मदेश्वर, ७४ इ, गोरक्षिणी पथ, ससाराम - ८२१ ११५
उत्तरार्द्ध (अ.) - विजयलक्ष्मी, ३८८ राधिका बिहार, मथुरा - २८१ ००४
कला (अ.) - कलाधर, नया टोला, लाइन बाजार, पूर्णियां - ८५४ ३०१
पुनः (अ.) - कृष्णानंद कृष्ण, दक्षिणी अशोक नगर, पथ सं-८बी, कंकड़ बाग, पटना - ८०० ०२०
सरोकार (अ.) - सदानंद सुमन, रानीगंज, मेरीगंज, अररिया - ८५४ ३३४
समीचीन (अ.) - डॉ. देवेश ठाकुर, बी-२३ हिमाचल सोसायटी, असल्फा, घाटकोपर (पू.), मुंबई ४०० ०८४
सम्यक (अ.) - मदन मोहन उपेंद्र, ए-१० शांतिनगर (संजय नगर), मथुरा २८१ ००१

## 'कथाबिंब' यहां भी उपलब्ध है :

- **पीपुल्स बुक हाउस,** मेहर हाउस, १५ कावसजी पटेल स्ट्रीट, मुंबई - ४०० ००१. फोन : २८७ ३७३८
- **व्यवस्थापक बुक कॉर्नर,** श्रीराम सेंटर, सफ़दर हाशमी मार्ग, नयी दिल्ली ११० ००१.
- **डॉ. देवकीनंदन,** ए-१/३०४, हृषीकेश, स्वामी समर्थ नगर, लोखंडवाला कॉम्प्लेक्स, अंधेरी (प.), मुंबई - ४०००५३. फोन : ६३२ ०४२५
- **श्री वीरेंद्र सिंह चंदेल,** १३६ तलैय्या लेन, परेड ग्राउन्डस, फतेहगढ़ - २०९६०१
- **श्री रविशंकर खरे,** हरिहर निवास, माधोपुर, गोरखपुर - २७३००१.
- **श्री राजेंद्र आहुति,** ए १३/६८, भगतपुरी, वाराणसी-२२१००१.
- **स ब द,** १७१ कर्नलगंज, स्वराज भवन के सामने, इलाहाबाद - २११००२.
- **डॉ. गिरीश चंद श्रीवास्तव,** ५९ खैराबाद, दरियापुर रोड, सुलतानपुर-२२८००१. फोन : २३२८५
- **श्री अनिल अग्रवाल,** परिवेश लघु पत्रिका मंडप, पुराना गंज, रामपुर-२४४९०१. फोन : ३२७३६१
- **श्री योगेंद्र दवे,** ब्रम्हपुरी, पीपलिया, जोधपुर-३४२००१
- **श्री राही सहयोग संस्थान,** शकुंतला भवन, बालाजी के मंदिर के पास, वनस्थली-३०४ ०२२ (राज.). फोन : २८३६७
- **श्री भुवनेश कुमार,** सं : कविता, २२० सेक्टर-१६, फरीदाबाद - १२१००२
- **श्री गोविंद अक्षय,** अक्षय फीचर सर्विसेस, १३-६-४११/२, रामसिंहपुरा, कारवान, हैदराबाद - ५०००६७.
- **श्री नूर मुहम्मद 'नूर',** सी. सी. एम. क्लैम्स लॉ, दक्षिण पूर्व रेल्वे, ३, कोयला घाट स्ट्रीट, कलकत्ता - ७००००१
- **श्री संजय सिन्हा,** पोस्ट बॉक्स नं. १६४, आसनसोल-७१३३०१
- **श्री देवेंद्र सिंह,** देवगिरी, आदमपुर घाट मोड़, भागलपुर - ८१२००१.
- **व्यवस्थापक,** सर्वोदय बुक स्टाल, रेल्वे स्टेशन, भागलपुर - ८१२००१.
- **श्री कलाधर,** आदर्श नगर, नया टोला, पूर्णियां - ८५४३०१.
- **मेसर्स लाल मणि साह,** आर.एन.साव. चौक, पूर्णिया - ८५४३०१.
- **श्री महेंद्र नारायण पंकज,** राजकीय प्राथमिक विद्यालय, पैकपार, मेरीगंज, अररिया - ८५४३३४.
- **श्री बसंत कुमार,** दीर्घतपा, वार्ड-६, अररिया -८५४३३४.
- **सुश्री मेनका मल्लिक,** चतुरंग प्रकाशन, न्यू कॉलोनी, उलाव, बेगूसराय - ८५११३४
- **श्री रणजीत बिहारी,** पत्रिका मंडप, पंचवटी, चीरागोड़ा, धनबाद - ८२६००१.
- **श्री प्रभात कुमार चौधरी,** प्रभात स्टेशनरी (दूकान नं.१), आयकर चौराहा, लालबाग, दरभंगा - ८४६ ००८.
- **श्री देवेंद्र होलकर,** १८८ सुदामा नगर, अन्नपूर्णा सेक्टर, इंदौर - ४५२००९. फोन : ४८४ ४५२
- **श्री मिथिलेश 'आदित्य',** पोस्ट बॉक्स-१, मेनरोड, जोगबनी - ८५४३२८

# : प्राप्ति - स्वीकृति :

त्रिधारा (उपन्यास) : चंद्रशेखर दुबे, दिशा प्रकाशन, १३८/१६ त्रिनगर, दिल्ली - ११००३५. मू. : १३० रु.
एक नाम : झीनी (उपन्यास) : धर्मेंद्र गुप्त, आसेतु प्रकाशन, २७४ राजधानी एन्क्लेव, शकूरबस्ती, दिल्ली - ११००३४. मू. : ८० रु.

बिना जड़ का पौधा (कहानी-संग्रह) : चंद्रशेखर दुबे, सार्थक प्रकाशन, १०० ए, गौतम नगर, नयी दिल्ली - ११००४९. मू. : १६० रु.
कथा लंदन (क. सं.) : सं. सूरज प्रकाश, प्रकाशन संस्थान, ४७१५/२१ दयानंद मार्ग, दरियागंज, नयी दिल्ली ११० ००२. मू. : १०० रु.
ग्यानूड़ी (क. सं.) : सदाशिव सुगंध, हंस पब्लिकेशन्स, भगवानदास मारवाड़ी लेन नं. २, भागलपुर (बिहार). मू. : १०० रु.
मेढ़की को जुकाम हो गया (क. सं.) : एख़लाक अहमद ज़ई, अपना प्रकाशन, साईंबाबा कॉलोनी, उल्हासनगर ४२१ ००२. मू. : ८० रु.
कौन अपना, कौन पराया (क. सं.) : कांति गुप्ता 'टिकरया', पीयूष प्रकाशन, नमस्कार, शारदा नगर, बस स्टैंड के पीछे, सतना - ४८५ ००१. मू. : ७० रु.
रक्तदीप (क. सं.) : राज केसरवानी, ३ IV, सेंट्रल एक्साइज कॉलोनी, रेसीडेंसी एरिया, इंदौर - ४५२ ००१. मू. : ६० रु.

कोलोपस (नाटक) : गुरूदत्त पांडे, चंद्रमुखी प्रकाशन, ई-५७८, मेन रोड, जगजीत नगर, नयी दिल्ली - ११००५३. मू. : १०० रु.

अंतर-संधि (गीत सं.) : राजेंद्र बर्मा, आशा प्रकाशन, ३/२९ विकास नगर, लखनऊ २२६ ०२२. मू. : ८० रु.
समिधा (कविता संग्रह) : उमेश अग्रवाल, उत्तमा प्रकाशन, कोरवा. मू. : ७५ रु.
वल्लरी (क. सं.) : प्रतिभा पुरोहित, १० गोकुल धाम, कलोल हाईवे, चांदखेड़ा, अहमदाबाद ३८२ ४२४. मू. : ५० रु.
रेत के मंदिर (क. सं.) : डॉ. विनोद कुमार चौधरी, प्रांजल प्रकाशन, यू. वी.-७, अंतारिक्ष भवन, कनाट प्लेस, नयी दिल्ली. मू. : ५० रु.

---

# 'रेखा सक्सेना स्मृति पुरस्कार'

अपनी कहानीकार पत्नी रेखा सक्सेना की स्मृति में श्री उमेश चंद्र सक्सेना [२०१/बी, पायल, आशा नगर, कांदिवली (पू.), मुंबई ४००१०१] ने प्रतिवर्ष 'कथाबिंब' को ५००० रु. देने की इच्छा ज़ाहिर की है. इस राशि का उपयोग पूरे वर्ष में प्रकाशित आठ कहानियों के कथाकारों को पुरस्कृत करने में किया जायेगा. पाठकों से अनुरोध है कि अक्तूबर-दिसंबर २००१ अंक हाथ में आने के बाद शीघ्र से शीघ्र कहानियों की श्रेष्ठता का क्रम प्रकाशित अभिमत-प्रपत्र में चिन्हित करके हमें भेजें.

पाठकों के अभिमतों के आधार पर वर्ष २००० के दोनों कहानी विशेषांकों के कथाकारों के नाम व कहानियों के शीर्षक निम्नवत हैं : सभी पुरस्कार विजेताओं को पुरस्कार-राशि भेजी जा चुकी है.

**प्रथम पुरस्कार (१००० रु.)**

*हासिम का* : डॉ. रूपसिंह चंदेल

**द्वितीय पुरस्कार (७५० रु. प्रत्येक)**

*दूसरा दरवाज़ा* : डॉ. रमेश उपाध्याय *आइरिस के निकट* : डॉ. संतोष श्रीवास्तव

**प्रोत्साहन पुरस्कार (५०० रु. प्रत्येक)**

*भाग्यविधाता* : डॉ. उर्मिला शिरीष
*चिड़िया अपनी शर्तों पर झंझावात चाहती थी...* : प्रबोध कुमार गोविल
*प्यासा इंद्रधनुष* : डॉ. दामोदर खड़से *अल्प-विराम* : सुधा वर्मा *वह औरत* : पुष्कर कुमार

# हमारे आज़ीवन सदस्य

प्रारंभ से लेकर अब तक 'कथाबिंब' ने काफी उतार-चढ़ाव देखे हैं. इस दौरान जिन व्यक्तियों या संस्थाओं से हमें सहयोग मिला हम उन सभी के आभारी हैं. 'कथाबिंब' का देश में, एक व्यापक पाठक वर्ग बन गया है. हमारी इच्छा है कि 'कथाबिंब' और अधिक लोगों द्वारा पढ़ी जाये.

आजीवन सदस्यों के हम विशेष आभारी हैं. जिनके सहयोग ने हमें ठोस आधार दिया है. सभी आजीवन सदस्यों से निवेदन है कि वे एक या दो या अधिक लोगों को आजीवन सदस्यता स्वीकारने के लिए प्रेरित करें. संभव हो तो अपने संपर्क के माध्यम से विज्ञापन भी उपलब्ध करायें. यदि विज्ञापन दिलवा पाना संभव है तो कृपया हमें लिखें.

**- संपादक**

१) श्री अरुण सक्सेना, नवी मुंबई
२) डॉ. आनंद अस्थाना, हरदोई
३) स्वामी विवेकानंद हाई स्कूल, कुर्ला, मुंबई
४) डॉ. डी. एन. श्रीवास्तव, मुंबई
५) डॉ. वेणुगोपाल, मुंबई
६) डॉ. नागेश करंजीकर, मुंबई
७) डॉ. प्रेम प्रकाश खन्ना, मुंबई
८) श्री हरभजन सिंह दुआ, नवी मुंबई
९) डॉ. सत्यनारायण त्रिपाठी, मुंबई
१०) श्री उमेशचंद्र भारतीय, मुंबई
११) श्री अमर ठकुर, मुंबई
१२) श्री बी. एम. यादव, मुंबई
१३) श्री संतोष कुमार अवस्थी, बड़ौदा
१४) सुश्री शशि मिश्रा, मुंबई
१५) श्री भगीरथ शुक्ल, बोईसर
१६) श्री कन्हैया लाल सराफ, मुंबई
१७) श्री अशोक आंद्रे, नयी दिल्ली
१८) श्री कमलेश भट्ट 'कमल', मथुरा
१९) श्री राजनारायण बोहरे, दतिया
२०) श्री कुशेश्वर, कलकत्ता
२१) सुश्री कनकलता, धनबाद
२२) श्री भूपेंद्र शेठ 'नीलम', जामनगर
२३) श्री संतोष कुमार शुक्ल, शाहजहांपुर
२४) प्रो. शाहिद अब्बास अब्बासी, पांडिचेरी
२५) सुश्री रिफ़अत शाहीन, गोरखपुर
२६) श्रीमती संध्या मल्होत्रा, अनपरा, सोनभद्र
२७) डॉ. वीरेंद्र कुमार दुबे, चौरई
२८) श्री कुमार नरेंद्र, दिल्ली
२९) श्री मुकेश शर्मा, गुड़गांव
३०) डॉ. देवेंद्र कुमार गौतम, सतना
३१) श्री सत्यप्रकाश, मुंबई
३२) डॉ. नरेश चंद्र मिश्र, मुंबई
३३) डॉ. लक्ष्मण सिंह बिष्ट, 'बटरोही,' नैनीताल
३४) श्री एल. एम. पंत, मुंबई
३५) श्री हरिशंकर उपाध्याय, मुंबई
३६) श्री देवेंद्र शर्मा, मुंबई
३७) श्रीमती राजेंद्र कौर, नवी मुंबई
३८) डॉ. कैलाश चंद्र भल्ला, नवी मुंबई
३९) श्री नवनीत ठक्कर, अहमदाबाद
४०) श्री दिनेश पाठक 'शशि', मथुरा
४१) श्री प्रकाश चंद्र श्रीवास्तव, वाराणसी
४२) डॉ. हरिमोहन बुधौलिया, उज्जैन
४३) श्री जसवंत सिंह विरदी, जालंधर
४४) प्रधानाध्यापक, 'ब्लू बेल' स्कूल, फतेहगढ़
४५) डॉ. कमल चोपड़ा, दिल्ली
४६) श्री आर. एन. पांडे, मुंबई
४७) डॉ. सुमित्रा अग्रवाल, मुंबई
४८) श्रीमती विनीता चौहान, नवी मुंबई
४९) श्री सदाशिव 'कौतुक', इंदौर
५०) श्रीमती निर्मला डोसी, मुंबई
५१) श्रीमती नरेंद्र कौर छाबड़ा, औरंगाबाद
५२) श्री दीप प्रकाश, मुंबई
५३) श्रीमती मंजु गोयल, नवी मुंबई
५४) श्रीमती सुधा सक्सेना, नवी मुंबई

***Marriages are made in heaven and solemnised only at Shikara, "The Mini Kashmir of Navi Mumbai"***

**LARGEST MARRIAGE HALL SPREAD OVER AN AREA OF 15,000 SQ. FT.**

- 5-star food and services at 3 star rates
- Banquet Services
- Ample parking space
- Choice of 5 party halls, 25-1000 persons capacity
- Traditional functions can be organised in Separate venues for Ladies and Gentlemen
- Outdoor Catering is our Speciality
- Also available are Mehendi person, Palmist, Magician, Ghazal Singers, Amusement park for children in the most elegantly designed Mini Kashmir of Navi Mumbai - Shikara

**With every booking avail our bonanza offer of Two 5 star Super Deluxe room for 2 night stay**

**AN ALLURING LANDMARK IN NEW BOMBAY**

# SHAMIANA

**The Meeting Place**

FOR BUSINESS AND PLEASURE

**with fine blending of traditional interiors, delicacies & a well stocked bar always remainest an opulance of wonder to especially you highway user...**

SHAMIANA IS NOW OPEN FOR REGULAR SERVICES . . .

SHIKARA RESTAURANT

## HOTEL HIGHWAY VIEW

**Plot No3, Opp. Sanpada Railway Station, Mumbai - Pune Road, Navi Mumbai - 400 705.**
**✆ 765 21 95 / 767 21 96 / 767 21 97 Fax : 767 21 99 / 762 12 26**

***e-mail : highway@indianbusiness.com web-site : www.indianbusiness.com/hotelhighwayview***


मंजुश्री द्वारा संपादित व आर्ट होम, शांताराम साळुंके मार्ग, घोड़पदेव, मुंबई - ४०० ०३३ में मुद्रित.
टाइप सेटर्स : वन-अप प्रिंटर्स, १२वां रास्ता, द्वारका कुंज, चेंबूर, मुंबई - ४०० ०७१. फो. : ५५५ २३४८ व ५५६ ६२८४.